

# तुलसी प्रज्ञा

## TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 35 • अंक 138 • जनवरी-मार्च, 2008

Arch Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान) भारत

JAIN VISHVA BHARATI UNIVERSITY

Ladunu - 341 306, Rajasthan, India

# तुलसी प्रज्ञा

---

# TULSI PRAJÑĀ

---

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati University

VOL.-138

JANUARY — MARCH, 2008

## Patron

Samani Dr Mangalprajna  
Vice-Chancellor

## Editor

*Hindi Section*  
Dr Mumukshu Shanta Jain

## *English Section*

Prof. Jagat Ram Bhattacharyya

## Editorial-Board

Prof. Mahavir Raj Gelra, Jaipur  
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Kolkata  
Prof. Arun Kumar Mookerjee, Kolkata  
Prof. Dayanand Bhargava, Jaipur  
Prof. Frank Van Den Bossche, Belgium  
Prof. Bachh Raj Dugar, Ladnun  
Dr J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

**Jain Vishva Bharati University**  
Ladnun-341306, Rajasthan, India

---

---

# Research Quarterly of Jain Vishva Bharati University

---

VOL.-138

JANUARY — MARCH, 2008

## Editor Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

## Editor English

Professor Jagat Ram Bhattacharyya

## Editorial Office

Tulsi Prajñā, Jain Vishva Bharati University  
LADNUN-341 306, Rajasthan, India

---

**Publisher** : Jain Vishva Bharati University  
Ladnun-341 306, Rajasthan, India

**Type Setting** : Jain Vishva Bharati University  
Ladnun-341 306, Rajasthan, India

**Printed at** : Jaipur Printers Pvt. Ltd.  
Jaipur-302 015, Rajasthan, India

---

---

Subscription (Individuals) Three Year 500/-, Life Membership Rs. 2100/-

---

---

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

---

## अनुक्रमणिका / CONTENTS

### हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृ. संख्या
दार्शनिक के लिए जरूरी है प्रयोगशाला	आचार्य महाप्रज्ञ	5
सृष्टिवाद	आचार्य महाप्रज्ञ	7
भारतीय दर्शनों में 'क्रिया' एक विहंगम दृष्टि	प्रोफेसर -दामोदर शास्त्री	14
जैन वाक्त्रमय व्यवहार भाष्य में चिकित्सा पद्धति	डॉ. साध्वी शुभ्रयशा	35
निशीथ एवं उसके व्याख्या साहित्य में भारतीय आर्थिक स्थिति	डॉ. साध्वी शुभ्रयशा	43

### अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	53
The Concept of Anekānta	Late Dr L.M. Singhvi	68
Improved pulmonary functions and positively altered glycosylated haemoglobin level in 'NIDDM' subjects after Preksha Yoga Therapy	J P N Mishra S K Gupta P S Shekhawat	80

मनुष्य कोई ईंट नहीं है, कोई कापी या पेन नहीं है, जिसे एक सांचे में ढालकर हजारों एक जैसे बनाए जा सकें। जड़ वस्तु का निर्माण यंत्र द्वारा होता है। मनुष्य चेतनावान प्राणी है, उसका निर्माण यंत्र द्वारा नहीं किया जा सकता। जहां चेतना है वहां चिन्तन है, स्मृति और कल्पना है। कुछ नया करने की भावना है। जहां यह सब होते हैं वहां एकरूपता का होना कठिन ही नहीं, असंभव है। सामूहिक जीवन के लिए यह एक बहुत बड़ी समस्या है और इस समस्या का हेतु है -

**रुचिभेद,**

**विचारभेद,**

**चिन्तनभेद।**

समाधान की भाषा में जरूरी है-

**‘नियंत्रण और परिष्कार’ ।**

**अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ**

# दार्शनिक के लिए जरूरी है प्रयोगशाला

अनुशास्ता आचार्य श्री महाप्रज्ञ

द्रव्य के अनन्त पर्याय हैं। ज्ञात पर्यायों की संख्या सीमित हैं, इसलिए दर्शन का क्षेत्र असीम है। सत्य उतना ही नहीं है, जितना पहले जान लिया गया। सत्य उतना ही नहीं है, जितना आज हम जानते हैं। अज्ञात के महासागर में ज्ञात एक छोटा सा द्वीप है, इसलिए दर्शन की यात्रा निरन्तर चलनी चाहिए।

वर्तमान में कुछ दार्शनिकों के विचार अथवा प्रत्यक्षीकरण पर चिन्तन किया जाता है। यदि यह सीमा बन जाए तो दर्शन का विकास नहीं हो सकता और नए नए पर्यायों की खोज भी नहीं की जा सकती। समयचक्र के साथ परिस्थितियां बदलती हैं। अतः स्थिति और भाव धारा में भी परिवर्तन होता है। उस परिवर्तन को दार्शनिक शैली में प्रस्तुत कर हम ज्ञेय की सीमा को व्यापक बना सकते हैं और उसकी सृजनात्मक शक्ति का विकास भी कर सकते हैं।

केवल तत्व-मीमांसा दर्शन की सीमा नहीं है। उसके चेतन और अचेतन जगत से संबंध की मीमांसा कर हम उपयोगिता और अनुपयोगिता के क्षेत्र में क्रान्ति कर सकते हैं। जेनिटक के वैज्ञानिक जीन के बारे में नए-नए प्रकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं। मनुष्य इसलिए जिद्दी होता है कि जिद्द का भी एक जीन है। कोई लम्बा होता है और कोई नाटा, इसका हेतु भी जीन है। जीवन के जितने पर्याय हैं, उन सबके जीन्स की खोज की जा रही है। जैन-दर्शन में कर्मवाद की गहन अवधारणा है। यदि कर्मशास्त्रीय अवधारणाओं को जीवन के पर्यायों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए तो जीवन के अनेक रहस्यों को उद्घाटित करने का अवसर मिल सकता है।

दर्शन का एक आयाम है विश्व-व्यवस्था के रहस्यों की खोज करना और उनका प्रतिपादन करना। दर्शन का दूसरा आयाम है - मनुष्य के जीवन-रहस्यों की खोज करना, चेतना के रूपों का विश्लेषण करना तथा चेतना की शुद्धि के लिए आचार प्रणाली का प्रतिपादन करना।

मनोवैज्ञानिक, परामनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक अनेक क्षेत्रों में दर्शन को चुनौती दे रहे हैं। वैज्ञानिक जगत में शोध और अनुसंधान चल रहा है। दार्शनिक जगत में एक ठहराव आ गया है। पूर्वजों ने जिस सत्य का प्रतिपादन किया, वह एक सीमा रेखा बन गयी। चेतना के अनेक स्तरों की व्याख्या जैसी दर्शनिक कर सकता है, वैसी वैज्ञानिक नहीं कर सकता। विज्ञान अभी तक पदार्थ जगत की सीमा में चल रहा है। उसने चेतना जगत का स्पर्श नहीं किया है अथवा बहुत कम किया है।

जैनदर्शन में ज्ञान-मीमांसा का क्षेत्र बहुत विशाल है। संभवतः इतना विशाल किसी भी भारतीय और पाश्चात्य दर्शन में नहीं है किन्तु जैन दार्शनिक मनीषी दार्शनिक जगत के सामने उसे समीचीन प्रणाली में प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं।

जैन दर्शन सम्मत लेश्या का सिद्धान्त रश्मि-मंडल अथवा आभा-मंडल का सिद्धान्त है। उससे मानवीय जीवन के अनेक रहस्यों को समझा जा सकता है और जीवन की अनेक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

शोध, अनुसंधान प्रवृत्ति का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है- भावधारा। शरीर, इन्द्रिय, श्वास और मन का संचालन भाव-स्पन्दनों (subtle most vibration of myself) के द्वारा होता है। बुद्धि भी उससे प्रभावित होती है। इस पर विस्तार के साथ दर्शनशास्त्रीय और आचारशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। दार्शनिक व्यक्तियों ने स्थूल प्रकम्पनों पर जितना कार्य किया है, उतना सूक्ष्म प्रकम्पनों पर नहीं किया। यदि सूक्ष्म प्रकम्पनों पर कार्य किया जाए तो दर्शन को एक नया रूप दिया जा सकता है और कुछ अर्थों में वैज्ञानिक जगत को चुनौती भी दी जा सकती है।

मैं चाहता हूँ कि दार्शनिक लोग केवल पूर्वजों के सिद्धान्तों की व्याख्या तक सीमित न रहें, किन्तु नए सिद्धान्तों की खोज करें, जिससे काल की आवलिका में दर्शन रूढ़ न बनें, अपितु गतिशील बनें।

**लक्ष्य एक, प्रणालियाँ दो, एक का नाम विज्ञान, एक का नाम दर्शन  
क्या दार्शनिक के लिए जरूरी नहीं है प्रयोगशाला?  
विरोधी विचारों में भी शान्तिपूर्ण अस्तित्व संभव है**

---

The role of Jainism in Envolving new paradigm of philosophy, २१-२३ फरवरी-०८, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ में जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय सेमीनार पर प्रदत्त अनुशास्ता का मंगल संदेश

# सृष्टिवाद

आचार्य महाप्रज्ञ

सत्य को देखने के लिए एक विशेष दृष्टिकोण की अपेक्षा है। हम देखते हैं ह्र सारी दुनिया में कुछ आ रहा है, कुछ जा रहा है। कुछ उत्पन्न हो रहा है, कुछ नष्ट हो रहा है। यह दर्शन हमें अशाश्वत का बोध कराता है, अनित्यता का बोध कराता है। क्या सत्य इतना ही है? उत्पाद होना, विनष्ट होना ह्र यदि सत्य की यही सीमा है तो बहुत सारे आचार, व्यवहार और सिद्धान्त बदल जाएँगे। यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा उभरती है ह्र क्या इस परिवर्तन के पीछे कोई अपरिवर्तनीय भी है?

अन्तर्दृष्टि, अतिशय ज्ञान अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान से देखने पर पता चला ह्र इस अशाश्वत के परदे के पीछे एक कोई शाश्वत भी है। उत्पाद और वृक्ष के प्रवाह के पीछे एक ध्रौव्य भी है। देखने की दृष्टि व्यापक बन गयी। जो आँखों से दिखाई दे रहा है या जो तर्क से हमें प्रतीत हो रहा है, सत्य इतना ही नहीं है। इस चक्षु दर्शन से अतीत भी है और तर्कातीत भी है। आगे आकाश बहुत खुला हो गया। व्यापक गति बन गयी कि तर्कातीत भी है।

अस्तित्व है, वह इन आँखों से दिखाई नहीं देता। जो अमूर्त है, वह इन आँखों से दिखाई नहीं देता। हमारे दर्शन की एक सीमा है। हम मूर्त को देख सकते हैं और मूर्त में भी स्थूल मूर्त को देख सकते हैं। सूक्ष्म मूर्त को भी नहीं देख सकते। हम तर्क के द्वारा अमूर्त को नहीं जान सकते। आज तक आत्मा, परमात्मा, ईश्वर को तर्क के द्वारा सिद्ध करने का बहुत भारी प्रयत्न किया गया। मेरी दृष्टि में उस प्रयत्न की सार्थकता उतनी ही है, जितनी नींद में आए सपने की। नींद में एक आदमी अच्छा सपना लेता है और जागने के बाद कुछ दिखाई नहीं देता। इससे ज्यादा कोई सार्थकता नहीं लगती। न तर्क के द्वारा आत्मा को सिद्ध किया जा सकता है और न तर्क के द्वारा परमात्मा या ईश्वर को सिद्ध किया जा सकता है। यह तर्क का विषय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने बहुत अच्छी बात कही थी ह्र तत्त्व दो प्रकार का होता है ह्र हेतुगम्य और



अहेतुगम्य। सब कुछ हेतुगम्य नहीं है। यह हमारा आग्रह मिथ्या है कि हम सब कुछ तर्क से सिद्ध करें, हेतु से सिद्ध करें। जो हेतुवाद का विषय है, वही हेतु से सिद्ध हो सकता है। अहेतुवादी पदार्थ, अमूर्त पदार्थ और सूक्ष्म पदार्थ तर्क के द्वारा कभी सिद्ध नहीं हो सकते। तर्क की सीमा भी शब्दों की सीमा के साथ जुड़ी हुई है। हम पदार्थ की प्रकृति को देखें तो जो अमूर्त पदार्थ हैं, वे हमारे ज्ञान के विषय नहीं हैं। हम केवल विशिष्ट ज्ञानी, अतिशय ज्ञानी की वाणी के आधार पर उनको स्वीकार कर लेते हैं अथवा मानकर चलते हैं। वहाँ पहुँचने के लिए स्वयं को ही साधना करनी होगी। अपनी साधना सिद्ध होगी तभी कोई आदमी पहुँच पायेगा और उनका साक्षात्कार कर पायेगा।

अस्तिकाय अस्तित्व का ही वाचक है। महावीर ने कहा - पांच अस्तित्व हैं, प्रत्येक का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय - सबका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जो अस्तित्व है, वह सत् है। सत् में यह सारा होता है। उमास्वाति ने बहुत सुन्दर कहा - उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यह सत् का लक्षण है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है, वह सत् है। प्रत्येक द्रव्य का एक अंश ऐसा है, जो स्थायी रहता है, कभी नहीं बदलता। एक अंश ऐसा है, जो परिवर्तित होता रहता है, बदलता रहता है। बहुत ठीक कहा गया है - अथिरे पलोट्टई, थिरे नो पलोट्टई - जो अस्थिर अंश है, वह परिवर्तित होता रहता है। जो स्थिर अंश है, वह कभी नहीं बदलता।

अस्तित्व भी द्वायात्मक हो गया। एक उसका अपरिवर्तनीय अंश और एक उसका परिवर्तनीय अंश। परिवर्तन और अपरिवर्तन दोनों के आधार पर फलित हुआ है - नित्यानित्यवाद। हम परिवर्तन को देखते हैं, क्योंकि हमारा ज्ञान इतना नहीं है कि हम अपरिवर्तन को देख सकें। अतीन्द्रिय ज्ञान के बिना वह संभव ही नहीं है। इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा हम उतना ही जान सकते हैं जिनका प्रारम्भ इन्द्रियों से हुआ है, संवेदनों से हुआ है और मन के द्वारा जिनका विश्लेषण हुआ है, बुद्धि के द्वारा जिनका व्यवसाय या निर्णय हुआ है। इस सीमा से आगे जायें तो औत्पत्तिकी बुद्धि के द्वारा कुछ नये रहस्यों को भी हमने खोजा है। यह हमारी ज्ञान की सीमा है।

उत्पाद और व्यय के बारे में विचार करते हैं तो विश्व के स्वरूप को समझने या दृष्टि की व्याख्या करने में बहुत सुविधा हो जाती है। एक प्रश्न हुआ - अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते नत्थित्ते परिणमइ - क्या अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है, क्या नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है? दूसरा प्रश्न आया - अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं - क्या अस्तित्व अस्तित्व में गमनीय है, क्या नास्तित्व नास्तित्व में गमनीय है? दो प्रश्न हैं। अस्तित्व का अस्तित्व में परिणमन - उत्पाद उत्पाद पैदा करता है। नास्तित्व का नास्तित्व में परिणमन - विगमन विगमन पैदा करता है। एक शृंखला चलती है, एक संतति की परम्परा है।

जैसे एक कोशिका दूसरी कोशिका को पैदा करती है, एक जीव दूसरे जीव को पैदा करता है, वैसे ही पर्याय का एक क्रम है - उत्पाद से उत्पाद का क्रम चलता है और व्यय से व्यय का क्रम चलता है। यह होता रहता है। चक्र है उत्पत्ति का और विलय का। कैसे होता है? कौन करता है? यह प्रश्न आता है।

आकाश में बादल मंडरा रहे हैं और हम देख रहे हैं। कौन कर रहा है? कुम्हार घड़ा बनाता है, सुनार गहना बनाता है या आज बहुत सारे उपकरण बनते हैं। बड़े-बड़े कारखाने चलते हैं। वहाँ आदमी काम कर रहा है, यंत्र भी काम कर रहा है। वहाँ यह प्रश्न नहीं है कि कौन कर रहा है? एक नया प्रश्न जरूर आ गया। आज कम्प्यूटर भी बहुत कुछ कर रहा है, रोबो भी बहुत काम कर रहा है। नया प्रश्न होगा - पहले तो मनुष्य ही करता था। अब अचेतन भी हाथ बंटाने लगा है। जो अज्ञात है, आज वहाँ प्रश्न है कि कौन कर रहा है? यह वर्षा कौन कर रहा है, बादल कैसे मंडरा रहे हैं? शायद विज्ञान के जमाने में यह भी कोई जटिल बात नहीं रही है। इसका कोई कर्ता नहीं है, स्वभाव से परिणमन हो रहा है।

परिणमन कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में बतलाया गया - पओगसा वि वीससा वि - परिणमन प्रयोग से भी होता है, मनुष्य के प्रयत्न से भी होता है और स्वभाव से भी कुछ बातें होती हैं। वैशेषिक दर्शन में सृष्टि को प्रायोगिक माना गया है। कोई करता है, इसलिए प्रयोग से हो रहा है। जैन दर्शन ने केवल प्रयोग से नहीं माना। उसके अनुसार कुछ परिणमन प्रयोग से होते हैं और कुछ स्वभाव से होते हैं। जो प्रयोग से होते हैं, वे जीव और पुद्गल के प्रयोग से होते हैं। इसके सिवाय तीसरी कोई शक्ति प्रयोग करने वाली नहीं है। बहुत सारा परिणमन स्वभाव से होता है।

परिणाम के दो रूप हमारे सामने आ गये - परिणमन और गमन। अपनी जाति में जो परिवर्तन होता है, वह है परिणमन। पानी में तरंग उठी, यह स्वजातिगत परिवर्तन है। पानी की बर्फ बना ली, यह गमनीय हो गया। यह जात्यंतर हो गया, अर्थान्तर हो गया। पहले पानी था, अब बर्फ बन गया। यह सारा परिवर्तन जात्यंतर और स्वजातिगत होता है। एक गाय घास खाती है और वही घास दूध में बदल जाता है। जात्यंतर हो गया। हम भोजन करते हैं। भोजन रक्त, रस और मांस में बदल जाता है। यह जात्यंतर परिवर्तन है। जात्यंतर परिवर्तन भी होता रहता है और स्वजातिगत परिवर्तन भी होता रहता है। परिवर्तन का क्रम निरन्तर चलता रहता है।

कृत और अकृत पारिणामिक भाव को समझे बिना विश्व की व्याख्या नहीं की जा सकती और वास्तविकता या सत् की व्याख्या भी नहीं की जा सकती। परिणमन हो रहा है। एक स्थूल दृष्टि में जो परिवर्तन होता है, वह हमें दिखाई देता है कि यह परिणमन हो रहा है, बदल रहा

है। एक इतना सूक्ष्म परिणमन है जो हमारी आँखों का विषय नहीं बनता पर वास्तव में हो रहा है\* उस परिणमन की व्याख्या में दो प्रकार बतला दिये गए - सादि पारिणामिक भाव और अनादि पारिणामिक भाव। अस्तित्व जितना है पांच द्रव्य हैं, पांच अस्तिकाय हैं वे अनादि पारिणामिक भाव हैं। इनका कोई आदि बिन्दु नहीं है कि यह कब से हुआ। यह अनादि परिणमन है, निरन्तर परिणमन होता रहता है। उनमें स्थिरता नहीं है, जड़ता नहीं है, निरन्तर गतिशीलता है। जितना भी अस्तित्व है, गतिशील है, निरन्तर गति करता रहता है। एक नियम भी इस आधार पर बन सकता है कि जिसमें गतिशीलता नहीं है, उसका अस्तित्व भी नहीं है। जिसका अस्तित्व है, उसमें गतिशीलता है। अस्तित्व और गतिशीलता दोनों को शायद अलग नहीं किया जा सकता। वह गतिशीलता चाहे परिस्पन्दात्मक हो या अपरिस्पन्दात्मक किन्तु गति निश्चित होगी।

जो हमें दिखाई दे रहा है, वह सारा सादि पारिणामिक भाव है। आज एक वस्तु बनी कुछ समय के बाद वह वस्तु नष्ट हो जाती है। कपड़ा बना और कुछ समय बाद कपड़ा फट गया। मकान बना, कुछ समय बाद मकान भी नष्ट हो गया। यह सारा सादि परिणमन है। ये बादल बनते हैं, यह भी सादि परिणमन है। आकाश में मंडराये और कुछ समय बाद साफ हो गये।

अनादि परिणमन के बिन्दु पर ही ईश्वर की चर्चा शुरू हो जाती है। यह संसार अनादि है या सादि ? यदि सादि है तो उसका कोई कर्ता होना चाहिए। चाहे मनुष्य हो, चाहे कोई शक्ति हो, चाहे कोई पुद्गल का ही संयोग हो। कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होगा। जो अनादि है, वहाँ कर्ता नहीं हो सकता। कर्ता की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें एक प्रश्न की शृंखला, तर्कशास्त्र में जिसको कहते हैं, अनवस्था आ जाती है। अनादि का कोई कर्ता है तो उसका कर्ता कौन है ? अस्तित्व सारे अनादि हैं, अकृत हैं। किसी के द्वारा कृत नहीं हैं। कोई उसका कर्ता नहीं है। ईश्वरवादी मानते हैं कि यह विश्व ईश्वर के द्वारा कृत है। सूत्रकृतांग सूत्र में एक वचन भी आता है - **ईसरेण कडे लोए** - लोक ईश्वर के द्वारा कृत है। दूसरा विचार यह आया कि यह संसार अकृत है, अनादि है। अनादि है वहाँ फिर कृत की कोई जरूरत नहीं। अनादि को भी कृत मानें तो फिर यह प्रश्न होगा कि ये सारे पदार्थ हैं, द्रव्य हैं, पहले नहीं थे फिर बनाये गये। अगर पहले नहीं थे, फिर बनाये गये तो सारी की सारी सृष्टि काल्पनिक सी हो गयी, कृत्रिम हो गयी। वह पहले कैसा था और फिर बनाया गया तो क्या बनाया गया ? बनाने का प्रयोजन क्या ? आदि-आदि तर्कशास्त्र में बहुत प्रश्न हैं। जहाँ अनादित्व है वहाँ कर्तृत्व की कोई अपेक्षा नहीं है।

एक प्रश्न आया - कर्ता नहीं है पर कोई नियमन करने वाला तो होगा ? कर्ता नहीं है, कोई नियमन नहीं कर रहा है तो इतनी बड़ी दुनियाँ कैसे चलेगी ? हम अपने शरीर को देखें, हमारी नाड़ी तंत्र में भी दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। इच्छा चालित भी है और स्वतः चालित भी है। स्वतः चालित भी दुनिया में होता है, नियम से भी होता है। नियंता होना आवश्यक नहीं है।

नियम होना जरूरी है। नियम के बिना कुछ भी नहीं चलता। नियम भी किसी ने बनाया नहीं। सार्वभौम नियम हैं, कोई नियम को बनाने वाला नहीं है। कर्ता भी नहीं, नियंता भी नहीं।

एक प्रश्न उभरा - कर्म का फल कौन करेगा ? कौन फल देगा ? अपराध करने वाला स्वयं तो दंड नहीं लेता, कोई-न-कोई दंड देता है। तर्क तो बहुत स्थूल है पर चलता है। कर्म फल देने वाला अगर ईश्वर नहीं है तो कर्म की विफलता हो जायेगी। यह प्रश्न कुछ चिन्तन मांगता है कि कर्म और ईश्वर - दोनों में से एक की सत्ता स्वीकार करना ज्यादा अच्छा है। यदि कर्म कुछ करता है तो ईश्वर की जरूरत नहीं है। ईश्वर करता है तो कर्म को स्वतन्त्र मूल्य देने की जरूरत नहीं है। वह तो उसके करने की एक प्रक्रिया मात्र होगा। फिर अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप की भारी चर्चाएं समाप्त हो जाएंगी। बहुत से प्रश्न सामने हैं। उस पर चिन्तन के बाद भी ऐसा लगता है कि विश्व भी अपने नियमों से संचालित, कर्म भी अपने नियम से संचालित और फल भोग की प्रक्रिया भी अपने नियम से संचालित है। अनादि अस्तित्व है और अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है ह्यपरिणमन। परिणमन होता रहता है, बदलता रहता है और अपने नियमों से ही बदलता रहता है। शायद यह अधिक बुद्धिसंगत बात हो सकती है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की त्रिपदी ने सृष्टि के विषय में और विश्व की व्याख्या के विषय में काफी सुविधा दी है। विश्व और सृष्टि - ये दो शब्द हैं। अर्थ दोनों के भिन्न हैं। विश्व अस्तित्व का एक समवाय है, जिसमें पाँच अस्तिकाय होते हैं, द्रव्य होते हैं, वह लोक है। इतना तो विश्व के साथ जुड़ा हुआ है। जो हो रहा है, वह सृष्टि का मार्ग है। सृष्टि में बदलाव आता है, वह बदलती रहती है, सारे परिवर्तन होते रहते हैं। आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में बहुत सुन्दर सूत्र लिखा है - **जीवपुद्गलयोर्विविध संयोगैः सः विविधरूपः** - जीव और पुद्गलों के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। विविध परिवर्तन होते हैं, विविध रूप बनते हैं। दोनों का संयोग सृष्टि का निर्माण करता है। विश्व में पाँच अस्तिकायों का अस्तित्व है, सबका योग है।

सृष्टि में केवल जीव और पुद्गल - दोनों का योग है। औरों की कोई अपेक्षा नहीं है। जो भी नव-निर्माण होता है, सारा जीव और पुद्गल के संयोग-वियोग से होता है। जीव और पुद्गल का संयोग बना और अनेक रूप बन जाते हैं। दोनों के संयोग से भी होता है और कुछ-कुछ स्वतन्त्रता से भी होता है। पुद्गल के भी अनेक रूप स्वतः बनते रहते हैं, स्कन्ध बनते रहते हैं। द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक अपना निर्माण करते रहते हैं। जब जीव के साथ इनका संयोग होता है तब नये निर्माण करते हैं। रोबोट है, केवल पुद्गल का निर्माण है। कम्प्यूटर है, उसमें चेतना नहीं है। केवल पौद्गलिक सृष्टि है। मनुष्य है, केवल पौद्गलिक सृष्टि नहीं है, वह जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से होने वाली सृष्टि है। एक दृष्टि से देखें तो मनुष्य

और रोबोट में चेतना का अन्तर है पर वैसे वह भी उत्पन्न हुआ है, एक पर्याय है। रोबोट पुद्गल का पर्याय है और मनुष्य जीव और पुद्गल दोनों का मिश्रित पर्याय। कोई भी मनुष्य मूल द्रव्य नहीं है, सबके सब पर्याय हैं। जैसे कपड़ा एक पर्याय है, वैसे आदमी भी एक पर्याय है पर एक मिश्रण से बना हुआ है। रोबोट, मकान आदि-आदि पदार्थ केवल पौद्गलिक हैं। सारी सृष्टि में जीव और पुद्गल अथवा कहीं पुद्गल और कहीं कोरा जीव - ये विविध रूपों में बदलते रहते हैं, विविध रूप उनके सामने आते रहते हैं। उनकी विविधता और विविध रूपों में होने वाले परिणमन का नाम है - सृष्टि।

सृष्टि का निर्माता और कोई प्रतीत नहीं होता। स्वयं द्रव्य ही अपने को आविर्भूत करता है, प्रकट करता है तो सृष्टि बन जाती है। पर्याय सामने आते हैं, सृष्टि बनती है। पर्याय जब विलीन होते हैं तो सृष्टि का विलय हो जाता है। अगर आप जगत् को बिल्कुल सीमित कर दें, सब पर्यायों को छोड़ दें तो दुनिया छोटी-सी हो जायेगी। कोरा द्रव्य रह जायेगा, विस्तार नहीं होगा। आप विस्तार करें तो वहां द्रव्य विलीन हो जायेगा। यह द्रव्यात्मक, पर्यायात्मक जगत् है। कहीं द्रव्य गौण है और पर्याय मुख्य, कहीं पर्याय गौण है और द्रव्य मुख्य। विस्तार का नाम है - सृष्टि और सीमा में रहने का नाम है - विश्व। विश्व और सृष्टि का जो स्वरूप है, हम उसे एक दृष्टि से देख सकते हैं और वह हमारी दृष्टि उत्पाद, ञ्ज और ध्रौव्य - तीनों से संयुक्त दृष्टि है। हम इन आँखों से उसे देख नहीं पाते किन्तु अन्तश्चक्षु के द्वारा हम अशाश्वत के भीतर विद्यमान शाश्वत को भी देखते हैं। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनों का योग जगत् और सृष्टि की व्याख्या कर सकता है।

जिज्ञासा सामने आई कि गम्यत्व का सिद्धान्त एक बहुत बड़ी समस्या है, क्योंकि गम्यत्व के सामने कुछ भी बोलना असंभव-सा हो जाता है। एक ईश्वरवादी का कर्तव्य है, ईश्वर कर्ता-हर्ता है। यह अहेतुगम्य सिद्धान्त है, इसे चुपचाप स्वीकार कर लो। एक आदमी कहता है कि आत्मा इस जीवन के बाद नहीं रहेगी। इसे भी अहेतुगम्यता के आधार पर चुपचाप स्वीकार कर लो। क्या वहां मौन हो जाएँ? तर्क करें या ना करें?

समाधान की भाषा में कहा जा सकता है कि ईश्वर को अमूर्त मान लें तो वहाँ हेतु कोई होगा नहीं, पर किस आधार पर मानें। उसको आधार चाहिए। वह कहेगा कि न्याय दर्शन में ऐसा माना है। हम कहेंगे - न्याय दर्शन मानता है, यह ठीक है पर जैन दर्शन नहीं मानता। कोई आधार तो प्रस्तुत करेंगे। वह किस आधार पर मानेगा? हम तर्क नहीं करेंगे पर उसका आधार तो समझेंगे। क्या वह दिखाई देता है, प्रत्यक्ष है? कहेगा - प्रत्यक्ष तो नहीं। फिर किस आधार पर मानते हो? आखिर अंतिम निर्णय होगा शास्त्र के आधार पर। भिक्षु स्वामी ने कहा था - हमने श्वेताम्बर आगमों के आधार पर दीक्षा ली है। शास्त्र की बात वहीं टल जायेगी। हम न्यायशास्त्र को प्रमाण नहीं मानते हैं।

जिज्ञासा सामने आई कि द्रव्यात्मको लोकः क्या कभी ऐसा भी हो सकता है कि इस सूत्र में कुछ और जोड़ा जाये यानि सूत्र को और दूसरी तरह से प्रस्तुत किया जाये ?

समाधान में कहा जा सकता है कि कोई नई बात सामने आये तो जोड़ने में कठिनाई नहीं है। अस्तित्व जो पांच बतलाये गये हैं, इतने व्यापक हैं कि पुद्गल और जीव दोनों में बहुत सारों का समावेश हो जाता है। अब कोई स्वतन्त्र आये तो अलग बात है। जन्म कुंडली में नौ ग्रहों को मानते थे। अब नेपच्यून को और मान लिया। और सामने आयेंगे तो और ग्रहों को मान लेंगे। समावेश सबमें हो जाता है तो फिर नया कैसे मानें ?

एक जिज्ञासा सामने आई कि विज्ञान ने स्पेस के बारे में आइन्स्टीन के बाद एक नई स्वीकृति दी, यह माना जाता है। संतति के बारे में ऐसा तो नहीं है लेकिन क्या ऐसा कोई संभव हो सकता है ?

कोई बात आयेगी तभी समाधान की भाषा में सोचा जा सकता है। पहले सोचने का विषय नहीं है। टाइम और स्पेस तो अलग नहीं है, यह तो मात्र योग की बात है। टाइम भी माना जाता था और स्पेस भी। दोनों सिद्ध थे। वह तो विज्ञान की प्रक्रिया में समीकरण में आये।

जिज्ञासा की गई कि पदार्थ वही है, जिसमें गतिशीलता है, तो क्या अधर्मास्तिकाय के कार्य में भी गतिशीलता है ? तो इसे जानने के लिए यह समझना होगा कि गतिशीलता दो तरह की होती है वह एक गतिशीलता वो है, जिसको क्रिया कहते हैं। क्रिया की दृष्टि से इनको निष्क्रिय बतलाया गया है। इनमें वह गति नहीं है, इसलिए इनको निष्क्रिय माना है। एक गति होती है देशान्तर गति और एक गति होती है स्वभावगत गति। अधर्मास्तिकाय निरन्तर स्वभाव में चलता रहता है। परिस्पंदन भीतर का होता रहता है, बाहर का नहीं होता। वह गतिशीलता सबमें है।

---

“आदमी दिन में जागता है, रात में नींद लेता है, जागरण और नींद के साथ दिन-रात का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। जागरण प्रत्येक क्षेत्र में लाभदायक माना गया है। जागरूक रहना सफलता के लिए अनिवार्य है। अध्यात्म में जागरण का विशेष अर्थ है - शुद्ध चेतना में होना और नींद का अर्थ है- अशुद्ध चेतना में होना। जो व्यक्ति अशुद्ध चेतना में जीता है, वह नींद में होता है, जो व्यक्ति शुद्ध चेतना में जीता है, वह जागरण की अवस्था में होता है।”

---

# भारतीय दर्शनों में 'क्रिया' एक विहंगम दृष्टि

प्रोफेसर दामोदर शास्त्री

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में विशेषतः आचारमीमांसा के संदर्भ में 'क्रिया' एक महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दु रहा है। जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, सभ्यता व संस्कृति के विकास का लक्ष्य हो, 'क्रिया' की महत्ता सदा रही है। भारतवर्ष को 'कर्मभूमि' कहा जाता है, क्योंकि यहाँ की गई 'क्रिया' से हमारे भावी जीवन की दिशा निर्धारित होती है और लोकोत्तर निःश्रेयस का मार्ग भी प्रशस्त किया जा सकता है।<sup>1</sup> इसीलिए माना जाता है कि स्वर्ग के देवता भी भारतवासी मानव-जाति का गुणगान-कीर्तिगान करते हुए कहते हैं कि 'भारतवासी धन्य हैं, क्योंकि यहाँ किये गये सदाचार के बल पर 'देव' रूप में जन्म लेकर स्वर्ग-सुख और कभी-कभी मुक्ति सुख -दोनों प्राप्त किये जा सकते हैं। निश्चित ही इन पर परमात्मा विशेष प्रसन्न हैं, इसलिए इन्हें परमात्म-सेवा का अवसर प्राप्त होता है।'<sup>2</sup>

लौकिक जीवन में 'क्रिया'- जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, 'निष्क्रियता' का जीवन आदरणीय नहीं रहा है। वैदिक सूक्तों में प्रार्थना-कामना की गई है कि हम 'क्रिया' करते हुए ही शतायु-पर्यन्त जीवन व्यतीत करें।<sup>3</sup> मीमांसा-दर्शन के अनुसार तो समस्त वैदिक वचन वस्तुतः 'क्रियार्थक' अर्थात् 'कर्म' की प्रेरणा देते हैं।<sup>4</sup> वस्तुतः कोई भी प्राणी पूर्ण निष्क्रिय-निष्कर्म होकर जीवन-यापन कर ही नहीं सकता।<sup>5</sup> किन्तु कर्म-दोषों से बचते हुए शास्त्र-सम्मत सत्कर्म करना श्रेयस्कर होता है। संस्कृत के महान् महाकवि भारवि का नैतिक उपदेशपरक एक प्रसिद्ध श्लोक है- 'सहसा विदधीत न क्रियाम्'<sup>6</sup> अर्थात् कोई भी काम सहसा -बिना सोचे-समझे, भावोद्रेक में नहीं करना चाहिए। सोच-समझ कर कार्य करने वाले समझदार व्यक्तियों के लिए दार्शनिक साहित्य में 'प्रेक्षापूर्वकारी' (प्रेक्षा, समझदारी पूर्वक काम करने वाले) शब्द प्रयुक्त होता है। इन्हीं समझदारों में से कुछ लोग एक ही क्रिया से अनेक कार्यों की सिद्धि कर लेने में कुशल होते हैं। उन्हीं के सन्दर्भ में संस्कृत की एक प्रसिद्ध सूक्ति है-- एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा, आम्राश्च सित्ताः पितरश्च

तृप्ताः अर्थात् एक ही क्रिया दो विभिन्न कार्यो/प्रयोजनों की सिद्धि करती है, उदाहरणार्थ- भितरों का तर्पण (अर्घदान) भी हो गया और आम के पेड़ को सींच भी दिया। 'एक तीर से दो शिकार' की उक्ति ऐसे लोगों के लिए चरितार्थ होती है। जैसे- प्रातःकाल टहलते-टहलते किसी मित्र के घर हो आए तो मित्र से मिलना भी हो गया और प्रातःकाल शारीरिक व्यायाम भी हो गया। दार्शनिक चिन्तकों के अनुसार भी प्रत्येक पदार्थ विभिन्न 'अर्थक्रिया' कर सकता है अर्थात् वह अनेक प्रयोजनों का साधक हो सकता है। उदाहरणार्थ-- एक ही अग्नि दाहक, पाचक व प्रकाशक के रूप में क्रमशः जलाने, खाना पकाने और प्रकाश देने की अर्थक्रिया कर सकता है।<sup>8</sup> क्रिया के सन्दर्भ में महर्षि-वेदव्यास का सारभूत कथन यहां मननीय है जो भारतीय संस्कृति में 'क्रिया' या कर्म की सामान्य अवधारणा को स्पष्ट करता है- -

अल्पं हि सारभूयिष्ठं कर्मोदारमेव तत्।

कृतमेवाकृताच्छ्रेयः न पापीयोऽस्त्यकर्मणः॥<sup>9</sup>

कुछ न करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है, क्योंकि निष्कर्मता, निष्क्रियता से बढ़ कर कोई पाप नहीं है। भले ही कोई काम छोटा दिखाई देता हो, किन्तु यदि उसका सार या परिणाम बहुआयामी हो तो वह कर्म महान् ही है। भागवत पुराण का यह कथन भी सारभूत है कि 'कर्म ही गुरु या ईश्वर है'।<sup>10</sup> वस्तुतः समस्त जगत् की सुखदुःखात्मक विचित्रता के पीछे (सदसत्) 'कर्म' ही प्रमुख कारण होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन साहित्य में 'क्रिया' शब्द सदाचार, प्रशस्त क्रिया के अर्थ में बहुशः प्रयुक्त हुआ है।<sup>11</sup> प्रत्येक दर्शन अपनी आचारमीमांसा के सन्दर्भ में 'क्रिया' या 'कर्म' की ही विस्तृत व्याख्या या विवेचना करता है। इसलिए सदाचरण, श्रेष्ठ-कर्म या धर्माचरण की तरह ही लौकिक जीवन में 'क्रिया' की महत्ता व उपयोगिता को समझा जा सकता है।

**भौतिक जगत् की 'क्रिया' : विज्ञान व अध्यात्म के आलोक में**

वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो भौतिक जगत् का प्रत्येक परमाणु क्रियाशील या सक्रिय है। इसमें 'प्रोटान' (घनात्मक विद्युत्कण) तथा इलेक्ट्रान (ऋणात्मक विद्युत्कण) सर्वदा, निरन्तर स्पन्दन रूप सूक्ष्म क्रिया करते रहते हैं। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, वह भी गतिशील है और वह स्वयं घूमती हुई सूर्य का चक्कर लगाती रहती है। इसी के फलस्वरूप दिन-रात, ऋतु-परिवर्तन आदि घटनाएं अनुभव-प्रत्यक्ष होती हैं। प्रत्येक पदार्थ की अपनी स्वाभाविक 'क्रिया' है, उसकी अपनी एक रचना-प्रक्रिया है, अन्य पदार्थों के सम्पर्क में उसकी विशेष प्रतिक्रिया या उदासीनता होती है। प्रत्येक पदार्थ विशेष परिस्थिति में विशेष विक्रिया (विकार या परिणति) से गुजरता है। इन्हीं पदार्थीय रचना-प्रक्रिया, क्रिया-प्रतिक्रिया-विक्रिया (विकार) आदि के अनुसन्धान व अध्ययन से अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं और होते रहेंगे जो भौतिक सभ्यता व सामान्य जन-जीवन को



अत्यधिक प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। भारतीय दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से विचार करें तो इस समस्त संसार की प्रमुख विशेषता ही है- इसकी संसरणक्रिया। 'संसार' व 'जगत्' शब्दों की निर्युक्ति भी इसी तथ्य को पुष्ट करती है। निरन्तर जिसमें संसरणशीलता, क्रियाशीलता, गतिशीलता है वह 'संसार' है या 'जगत्' है।<sup>12</sup>

संसार के घटक तत्त्व हैं-- अजीव (जड़, भौतिक) और जीव (चेतन) पदार्थ। इन दोनों में भी 'जीव' प्रमुख है, क्योंकि वह भोक्ता है और शेष पदार्थ (जड़) भोग्य। अजीव (जड़) पदार्थों में से ही कुछ से जीव के शरीर, इन्द्रिय आदि का निर्माण होता है और उसी के सहारे जीव की गतिशीलता- सक्रियता नये-नये आयाम लेती है। इसी दृष्टि से जीव को रथी और शरीर को रथ की या जीव को नाविक की और शरीर को नाव की उपमा दी गई है।<sup>13</sup> संसारी जीव अपने सम्पर्क में आए अजीव पदार्थों के प्रति या अन्य जीवों के प्रति अपने अच्छे-बुरे भावों से अच्छी या बुरी क्रिया करता है। इस क्रिया के पीछे उसका अज्ञान व मोह प्रमुख कारण होता है।<sup>14</sup> यद्यपि सांसारिक पदार्थ स्वप्नवत् अनित्य-विनाशी होते हैं तथापि इन पदार्थों को स्थायी व सुखदायी समझ कर किये गये मानसिक सद्भाव या असद्भाव जीव को क्रियाशील करते हैं और जीव के संसार-भ्रमण के कारण होते हैं।<sup>15</sup>

उस क्रिया की प्रतिक्रियास्वरूप एक सूक्ष्म कर्मचक्र निर्मित होता है और यहीं से शुभाशुभ कर्म-बन्धन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।<sup>16</sup> इस शुभाशुभ कर्म चक्र के आधार पर जीव के भावी सुख- दुःखात्मक जीवन की दिशा निर्धारित होती है। फलस्वरूप उपार्जित कर्मों के अनुरूप मरण के बाद भी सद्गति या दुर्गति प्राप्त होती है, अपने क्रियागुणों आदि के अनुरूप जीव स्थूल-सूक्ष्म रूप धारण करने को बाध्य होता है।<sup>17</sup> जन्मान्तर वाले जीवन में भी पूर्ववत् क्रियाशीलता के कारण शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन भी चलता रहता है, अतः जन्म-जन्मान्तरण, जन्म-मरण-पुनर्जन्म आदि की प्रक्रिया निरन्तर प्रवर्तमान रहती है। जैसे किसी चक्र का आदि व अन्त नहीं होता, वैसे ही कर्म-चक्र व संसार चक्र आदि की प्रक्रिया निरन्तर प्रवर्तमान रहती है। यह प्रक्रिया तभी बन्द हो सकती है जब जीव पूर्णतः 'निष्क्रिय' (कायिक स्पन्दन आदि से रहित) हो और यह निष्क्रियता तब प्राप्त हो जब सारे कर्म नष्ट हों। (इसी समस्या का समाधान अध्यात्म दर्शन में मिलता है जो जीव को 'निष्क्रियता' की स्थिति तक पहुंचने का मार्ग बताता है।

### दुःख व अशांति के जीवन का कारण- 'क्रिया'

निष्कर्ष यह है कि जीव-अजीव की क्रीडास्थली 'संसार' निरन्तर भागदौड, गतिशीलता, सक्रियता के कारण निरन्तर अशान्त दृष्टिगोचर होता है। किसी संसारी जीव को वास्तविक

सुख-शांति का अनुभव नहीं हो पाता। संसार के इस स्वरूप को महर्षि वेदव्यास ने भागवत में एक सुन्दर दृष्टान्त के माध्यम से समझाया है -

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।

पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु॥

अर्थात् जैसे किसी व्यापारिक मण्डी में -जहां सोने-चाँदी से लेकर सामान्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का थोक या खुदरा व्यापार होता हो- बेचे जाने वाली या खरीदे जाने वाली वस्तुएं इधर से उधर लाई-ले जाई जाती रहती हैं, वैसे ही जीव विविध योनियों में यहां से वहां निरन्तर-भ्रमण कर रहे हैं या कराये जा रहे हैं। बाजार में निरन्तर हलचल, भागदौड़, गमनागमन से एक अशांत-तनावपूर्ण वातावरण रहता है। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में विक्रेता व्यापारी अपनी वस्तु को अधिकाधिक लाभ में बेचना चाहते हैं तो खरीददार अधिकाधिक सस्ते दामों में अच्छी से अच्छी वस्तु, वह भी जांच-परख कर खरीदना चाहता है। सर्वत्र तनाव रहता है, भीड़ में सबसे जल्दी अपना काम पूरा करने की भागदौड़ रहती है, असन्तोष, लोभ तथा प्रतिस्पर्धात्मक मानसिक व्यग्रता रहती है। इसी तरह इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कामभोगों को अधिकाधिक खरीदने-हस्तगत करने की प्रतिस्पर्धा में तनावग्रस्त व अशांत सक्रिय जीवन जी रहा है, विश्रान्ति-शांति कभी नहीं प्राप्त करता है।

जैन परम्परा में भी इस जीव-लोक को व्यापारी दृष्टि से वर्णित करते हुए कहा गया है कि इन जीवों में तीन तरह के व्यापारी हैं। एक तो वे जो किसी तरह मूल पूंजी बचा पाते हैं और दूसरे वे जो अपनी मूलपूंजी बचाते हुए अधिकाधिक लाभ कमाते हैं, तीसरे वे जो लाभ तो क्या, अपनी मूल पूंजी भी गवां देते हैं। लाभ कमाने वाले जीव वे हैं जो मनुष्य भव प्राप्त कर देवगति का लाभ पाने में सफल होते हैं। जो मनुष्य भव प्राप्त कर मनुष्य योनि में जाने का कर्म-उपार्जित करते हैं, वे मूलधन सुरक्षित रख पाने वाले व्यापारी जैसे हैं। किन्तु जो मनुष्य भव प्राप्त करके भी नीच-पापक्रियाओं-कर्मभोगों में लिप्त रह कर नरक-तिर्यच आदि दुर्गति पाने वाले हैं, वे उन व्यापारियों की तरह परम दुःखी हैं जो व्यापार में अपनी मूलपूंजी भी गंवा बैठते हैं।<sup>18</sup> ऐसे लोग उन जुआरियों जैसे हैं जो दाव में काकिणी (कौड़ी की वस्तु) के लिए हजार सोने की मुहर हार जाते हैं।<sup>19</sup> कामभोग-सम्बन्धी भागदौड़, पारस्परिक ईर्ष्या उनके विनाश का कारण बनती है। जैसे गीध पक्षियों पर और गरुड़ सर्पों पर टूट पड़ता है और उन्हें मार डालता है, वैसे ही कामभोग-सम्बन्धी मनोभाव जीव को दुर्गतिरूप संसार में ढकेल कर उसकी विनाश यात्रा का मार्ग प्रशस्त करते हैं।<sup>20</sup> इसी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में इस संसार को दुःखस्थली और 'अनन्त दुःख सागर' की तरह दुस्तरणीय बताया गया है।<sup>21</sup>

संसार-चक्र की दुरन्तता व दुस्तरता को इंगित करने के लिए जैन परम्परा में संसार-परिवर्तन को पांच प्रकारों में वर्गीकृत कर समझाया गया है। ये पांच प्रकार हैं- द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल-परिवर्तन, भाव-परिवर्तन और भव-परिवर्तन।<sup>22</sup> इन परिवर्तनों के निरूपण से यह स्पष्ट होता है कि संसार का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है जहां प्रत्येक जीव ने जन्म न लिया हो,<sup>23</sup> ऐसा कोई भौतिक कर्म-परमाणु नहीं है जिसे उसने कर्मरूप में परिणत नहीं किया हो। कहने का सार यह है कि हम अनन्त बार जन्मे और मरे हैं। इस निरन्तर संसार-परिभ्रमण का कारण हमारी अपनी 'क्रिया' है और कोई नहीं।

प्रायः सभी आस्तिक अध्यात्म-दर्शनों का निष्कर्ष यह है कि इस संसार में सुख-दुःखदायी सुगति-दुर्गतियों में जीव द्वारा की गई क्रियाएं- किये गये शुभाशुभ कर्म ही कारण हैं,<sup>24</sup> कर्मों की शुभाशुभता के पीछे जीव का अज्ञान-मिथ्यात्व हेतु है,<sup>25</sup> इस संसरण-क्रियाचक्र से छूटने का उपाय 'निष्कर्म' होना है और निष्कर्मता (अक्रियता) की स्थिति के लिए पुण्य-पाप- इन दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय अपेक्षित है।<sup>26</sup> इस संसार-चक्र से अस्पृष्ट कोई है तो वह परमात्म-तत्त्व ही है जो परम ज्ञानादिक्रिया-सम्पन्न होते हुए भी निष्फल, निष्क्रिय है और इस समस्त संसार का साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) है।<sup>27</sup>

### भारतीय दर्शनों में क्रिया-सम्बन्धी विविध निरूपण

सभी दर्शनों में, चाहे वे आस्तिक दर्शन हों या नास्तिक 'क्रिया' का निरूपण हुआ ही है। चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन में भी 'खाओ, पीओ, मौज करो' की क्रिया का उपदेश दिया गया है। शेष भारतीय दर्शनों में, जो पुनर्जन्म, परलोक आदि का अस्तित्व मानते हैं, आचारमीमांसा के संदर्भ में परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की प्राप्ति में 'क्रिया' की उपयोगिता को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया गया है। कुछ दर्शन मोक्ष-प्राप्ति में 'ज्ञान' (आत्मज्ञान, पदार्थज्ञान, आत्म-अनात्मविवेक आदि) को कारण मानते हैं, वे भी चित्त-शुद्धि हेतु 'क्रिया' (नित्य अनुष्ठेय धार्मिक क्रिया आदि) की उपयोगिता स्वीकारते हैं।<sup>28</sup>

वेदान्त, न्यायवैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि दर्शनों ने 'नित्य क्रिया' की मोक्ष में परम्परया उपयोगिता स्वीकार की है। मंडन मिश्र (सुरेश्वराचार्य) आदि प्राचीन वेदान्ती व मीमांसक दार्शनिक 'ज्ञान-कर्मसमुच्चय' (ज्ञान व कर्म की सहप्रधानता) का समर्थन करते हैं तो आचार्य शंकर इसका पूर्णतः निराकरण करते हैं। उनके मत में मोक्ष 'क्रियानिष्पाद्य' नहीं है।<sup>29</sup> आचार्य भर्तृहरि आदि भेदाभेदवादी वेदान्ती 'कर्म-ज्ञानसमुच्चय' का समर्थन करते हैं।

योगदर्शन में तो 'क्रियायोग' को मोक्ष-साधक (समाधि-भावना में तथा क्लेशकृशता में सहायक) माना गया है। इस क्रियायोग में तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान (इष्ट देव-ध्यानादि)

को सम्मिलित किया गया है। गीता का निष्काम कर्मयोग प्रसिद्ध है ही, जो फ़लासक्ति आदि रहित क्रिया की कर्तव्यता का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के साधनों में 'क्रिया' का निरूपण प्रायः सभी दर्शनों में है। क्षणिकवादी व नैरात्म्यवादी बौद्ध दर्शन भी साधक के लिए 'अष्टांगिक मार्ग' या 'मध्यमप्रतिपदा' के रूप में पंचशील, समाधि व प्रज्ञा- इन विविध आचरणीय क्रियाओं का निरूपण करता है।

इसके अतिरिक्त 'क्रिया' को स्वतंत्र पदार्थ के रूप में भी मान्यता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ- प्रमुखतः न्याय-वैशेषिक दर्शन में क्रिया (कर्म) को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में निरूपित कर इसके विविध भेदों का निर्देश किया गया है और किन-किन मूर्त द्रव्यों में इसका सद्भाव है- इसका भी निरूपण है। इतना ही नहीं, घड़े को पकाये जाने पर घड़े के लाल होने की प्रक्रिया जो होती है, उसको लेकर दो पृथक्-पृथक् सिद्धान्त निरूपित हुए हैं। न्यायदर्शन पिठरपाकवाद का समर्थक है और यह मानता है कि सम्पूर्ण घड़े का पूर्व वर्ण नष्ट होकर पूरे घड़े में ही लाल वर्ण उत्पन्न होता है, जबकि वैशेषिक दर्शन में पीलुपाकवाद का समर्थन हुआ है जिसके अनुसार (पीलु) परमाणुओं में ही नवीन रूप उत्पन्न होता है और क्रमशः घड़ा नवीन लाल वर्ण प्राप्त करता है।

जो दर्शन द्रव्यों/पदार्थों /तत्त्वों का वर्गीकरण करते हैं, वे यह निरूपण भी करते हैं कि अमुक तत्त्व 'निष्क्रिय' या सक्रिय है या कौन-कौन से तत्त्व सक्रिय हैं और कौन से निष्क्रिय। वे इस संदर्भ में 'क्रिया' का अर्थ भी स्थूल या सूक्ष्म- दो प्रकार से करते हैं। क्रिया अर्थात् गति (देशान्तर-प्रापिका)- यह क्रिया का स्थूल अर्थ है, किन्तु तत्त्व में अन्तर्निहित परिवर्तनशीलता- यह उसका सूक्ष्म व व्यापक अर्थ है। उदाहरणार्थ- सांख्य दर्शन में सामान्यतः प्रकृति 'निष्क्रिय' मानी गई है,<sup>30</sup> किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति में क्षोभरूप परिणमन क्रिया का सद्भाव भी माना गया है।<sup>31</sup> जैन दर्शन में भी जीव व पुद्गल को गतिशील मानकर 'सक्रिय' और अन्य को निष्क्रिय माना गया है, वहां भी क्रिया का अर्थ गतिशीलता है। किन्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक परिणमन रूप क्रिया के आधार पर समस्त द्रव्य 'सक्रिय' ही हैं।<sup>32</sup> इसके अतिरिक्त, सृष्टि की क्रिया, प्रलय की क्रिया आदि का विवेचन भी (सांख्य, न्याय-वैशेषिक, औपनिषदिक आदि) दर्शनों में विविध रूप से किया गया है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा में 'क्रिया' एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय रहा है। यहां यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि जैन साहित्य एवं-धर्म-दर्शन में 'क्रिया' का जो विस्तारपूर्वक व सूक्ष्म निरूपण हुआ है, वह अन्य दर्शनों से विशिष्ट एवं मौलिक है।

## जैन साहित्य में 'क्रिया' का बहुआयामी रूप

सर्वप्रथम यह निर्देश करना उचित है कि 'क्रियावाद' भारतीय आस्तिक विचारधारा का एक विशेष मानदण्ड है। 'क्रियावाद' का समर्थक आत्मा, परलोक, कर्मवाद व पुनर्जन्म आदि का समर्थक होगा ही।<sup>33</sup> भगवान् महावीर के समय में अनेक मत-मतान्तरों में क्रियावादी (180 भेद), अक्रियावादी (84 भेद), उच्छेदवाद आदि मत प्रसिद्ध थे। क्रियावाद व अक्रियावाद का निरूपण धवला, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।<sup>34</sup> (सम्यक्) क्रियावाद इन सब में जैन मान्यता के अधिक अनुकूल था (बशर्ते वह ज्ञानवाद आदि से अविरुद्ध हो)। क्रिया से कर्ता (आत्मा) के अस्तित्व की पुष्टि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार करती है।<sup>35</sup> अतः (ज्ञानावादादि-सापेक्ष) 'क्रियावाद' जैन दार्शनिक विचारधारा में पूर्णतः उपादेय रहा है।

भगवान् महावीर के जैन संघ में 'क्रिया' को केन्द्र बिन्दु रखकर अनेक महत्त्वपूर्ण मतभेद भी सामने आए। उनमें एक था जमाली-निरूपित बहुरतवाद जो भगवान् महावीर के 'क्रियमाण कृत' के विरुद्ध या आक्षेप रूप था।<sup>36</sup> 'क्रियमाणकृत' के अनुसार जो किया जा रहा है, उसे किया हुआ माना जाता है अर्थात् कार्य प्रारम्भ हो जाने पर, भले ही वह कार्य पूर्णता को, सम्पन्नता को प्राप्त न भी हुआ हो, चूंकि वह आंशिकरूप से हो चुका है, होता जा रहा (क्रियमाण) है, वह 'कृत' कहा जाता है। यह निरूपण 'निश्चय नय' या ऋजुसूत्रनय के अनुसार माना जाता है। इस नय में क्रियाकाल व निष्ठाकाल अभिन्न होते हैं। इसी तरह अजितकेशकम्बली द्वारा प्रवर्तित 'उच्छेदवाद' के अनुसार दान आदि सत्क्रियाएं निष्फल, निस्सार हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद सब उच्छिन्न हो जाता है। इसी संदर्भ में अश्वमित्र का 'सामुच्छेदिकवाद' भी उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार उत्पत्ति-क्रिया के तुरन्त बाद वस्तु नष्ट हो जाती है। आचार्य पूरणकाश्यप के अक्रियावाद के अनुसार किसी भी क्रिया से कर्मबन्ध आदि नहीं होता। इसी क्रम में आचार्य गंग का 'द्वैक्रियावाद' था जो भगवान् महावीर के 'एक समय में एक ही उपयोग परिणति-क्रिया' की मान्यता के विपरीत था।

जैन दर्शन में नयवाद, अनेकान्तवाद व स्याद्वाद को विशिष्ट स्थान प्राप्त है- यह दर्शन का विद्यार्थी जानता है। इन नयों में ज्ञाननय व क्रियानय का विशिष्ट निरूपण प्राप्त होता है। समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने एकान्त ज्ञाननय व एकान्त क्रियानय का निराकरण कर इन दोनों की परस्पर अपेक्षा या मैत्री स्थापित कर ज्ञान व क्रिया-दोनों को महत्त्व देते हुए साधना करने की प्रेरणा दी है।<sup>37</sup> इसी संदर्भ में क्रियारुचि (सम्यक्त्व) का निर्देश भी प्रासंगिक है। ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, समिति-गुप्ति के पालन में जिसकी भावपूर्वक रुचि हो, वह 'क्रियारुचि' है।<sup>38</sup> नयों में 'एवंभूत नय' के अनुसार समस्त वस्तु 'क्रियात्मक' है।<sup>39</sup>

कुछ स्थलों में 'क्रिया' शब्द 'जीवाजीवादि पदार्थ-ज्ञान एवं छन्द, अलंकार आदि के वाचक रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।<sup>40</sup> समस्त कलाओं (पुरुषों की 72 कलाओं, स्त्रियों की 64 कलाओं) तथा काव्य-कला आदि का भी यह शब्द वाचक है और 'क्रियाविशाल' नामक 'पूर्व' में इनका निरूपण था- ऐसी मान्यता है।<sup>41</sup>

### जैन दर्शन और अर्थ क्रिया

'अर्थक्रिया' एक दार्शनिक पारिभाषिक शब्द है। इसके सम्बन्ध में भी जैन दार्शनिकों ने सूक्ष्म व मौलिक विचारणा प्रस्तुत की है जिसका सार यहां प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा। सामान्यतः 'क्रिया' को चेष्टा का पर्याय माना जाता है--

आत्मजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।  
कृतिजन्या भवेत् चेष्टा, क्रिया सैव निगद्यते॥

तात्पर्य यह है कि मन में उठने वाले मानसिक भाव इच्छा-कृति-चेष्टा-इस क्रम में क्रिया का रूप धारण करते हैं। कृति का अर्थ है करने का संकल्प या चेष्टा का प्रारम्भ पर यह तो हुई चेतन पदार्थ की बात। अचेतन पदार्थ में भी चेतन की चेष्टा या क्रिया से कुछ परिणतियां सम्भव होती हैं, जिन्हें प्रयत्नजनित पदार्थ क्रिया कहा जाता है।

स्थूल रूप से अर्थक्रिया का अर्थ है- व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से पदार्थ का क्रियान्वित होना। चेतन व्यक्तियों का सक्रिय होकर व्यवहार में किसी न किसी के लिए उपयोगी बनना सर्वविदित है। भौतिक पदार्थों में भी अर्थक्रिया द्वारा उपयोगी होने की प्रक्रिया को प्रतिदिन अनुभव किया जाता है। जैसे, मिट्टी से घड़े का निर्माण करते हैं, घड़े से पानी लाने व भरने आदि का काम लेते हैं। रूई से धागों का निर्माण कर धागों को वस्त्र का आकार देते हैं और वस्त्र को पहनने-ओढ़ने एवं शीत-निवारण आदि के काम में लेते हैं। सोने से विविध आभूषण बनाते हैं और उन्हें विभिन्न अंगों पर धारण करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में पदार्थ का विविध परिणतियों के माध्यम से क्रियान्वित होना अथवा अर्थक्रिया-उपयुक्त होना उसकी 'अर्थक्रिया' है- 'अर्थक्रिया अर्थस्य हानोपादानलक्षणस्य क्रियाः निष्पत्तिः ।

जैन दर्शन में स्वतः या किसी अन्य के निमित्त से होने वाली परिणति -जो एक देश से दूसरे देश में स्थानान्तरित होने में कारण होती है-, 'क्रिया' मानी गई है।<sup>42</sup> यह क्रिया जीव व पुद्गलों में होती है, अतः ये दोनों ही 'सक्रिय' माने गए हैं।<sup>43</sup> जैन दार्शनिकों के मत में 'अर्थ' से तात्पर्य 'कार्य' पदार्थ से है, उसमें होने वाली क्रिया अर्थात् कार्य के रूप में होने वाली निष्पत्ति-रूप क्रिया 'अर्थक्रिया' है। इसके अतिरिक्त, आत्मा का जो चैतन्य धर्म या स्वभाव है- जो मन-वचन-काय की चेष्टा के रूप में अभिव्यक्त होता है- वह भी क्रिया रूप में स्वीकारा गया है।<sup>44</sup> पुण्य-पाप कर्मों के निमित्त से प्रादुर्भूत सुख-दुःखादि की अनुभूति-यह चेतन जीव की अर्थक्रिया है।<sup>45</sup>

‘अर्थक्रिया’ को एक व्यापक अर्थ में लेते हुए जैन दार्शनिकों ने यह भी कहा है कि ज्ञान-व जड़ -दोनों की क्रिया ‘अर्थक्रिया’ में अन्तर्भूत है। संक्षेप में चेतन व अचेतन -दोनों की क्रिया को ‘अर्थक्रिया’ कहा जा सकता है।<sup>46</sup> अर्थक्रिया में एक वस्तु द्वारा ‘स्वयं में किये जाने वाली विविध क्रियाएं’ तो अन्तर्भूत हैं ही, किसी अन्य में भी प्रादुर्भूत की जाने वाली क्रियाएं भी उस द्रव्य की मानी जाती हैं। जैसे एक नर्तकी भ्रू-भंग, अक्षिनिक्षेप आदि जो क्रियाएं करती है, वे उसकी ‘अर्थक्रिया’ हैं, साथ ही नर्तकी के नृत्य को देखकर प्रेक्षकों का भावविभोर हो जाना या उनका विविध मनोभावों से युक्त होना, वह भी नर्तकी की अर्थक्रिया कही जाएगी।<sup>47</sup> इस दृष्टि से वस्तु का ज्ञान, उसका अनुभूति-विषय बनना, प्रयोजनानुसार विविध परिणतियों से युक्त होना आदि सभी स्थितियां अर्थक्रिया में अन्तर्भूत हैं।

आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में ग्राह्य-ग्राहक भाव से युक्त होना, वाच्य-वाचकता या कार्यकारणरूपता प्राप्त करना आदि को भी ‘अर्थक्रिया’ के रूप में स्वीकारा है।<sup>48</sup>

### अर्थक्रियाकारित्व समस्त द्रव्यों में

जैन आचार्यों ने अर्थक्रिया या अर्थक्रियाकारिता को व्यापक आयाम देते हुए इसे सर्वद्रव्यगत सिद्ध किया है। न केवल जीव व पुद्गल अपितु धर्म, अधर्म, आकाश, काल में भी अर्थक्रिया होती ही है और यदि न हो तो वह वस्तु ‘सत्’ या अस्तित्वयुक्त ही नहीं हो सकती, -ऐसा जैन दार्शनिकों का मत है। अर्थक्रिया को सूक्ष्मतया व्याख्यायित करने वाले जैन दार्शनिकों व नैयायिकों की दृष्टि को स्पष्ट करें तो “अपने मौलिक अस्तित्व, सार्थकता व उपयोगिता को निरन्तर बनाये रखते हुए, देश-कालानुरूप सदृश या विसदृश, सूक्ष्म या स्थूल परिणतियों-रूपान्तरणों के माध्यम से क्रियान्वित होना पदार्थ की ‘अर्थक्रिया’ है और उस क्रिया से सम्पन्न होते रहने की सहज योग्यता ही ‘अर्थक्रियाकारिता’ है।”

### सत्ता व अर्थक्रिया का तादात्म्य

प्रत्येक वस्तु में तदात्मभूत ‘वस्तुत्व’ गुण होता है। जिसके कारण उस वस्तु या द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व संगत होता है, उस वस्तु की प्रयोजनभूत क्रिया संभव होती है।<sup>49</sup> परमार्थतः द्रव्य की सत्ता और अर्थक्रिया- ये दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं। इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है- प्रत्येक सदृश वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक (त्रिलक्षणात्मक) ‘परिणाम’ प्रवर्तमान रहता है और सत्पदार्थगत यही परिणति-प्रवाह अर्थक्रिया है या अर्थक्रिया का आधार है।<sup>50</sup>

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में पूर्व आकार का त्याग तथा उत्तरवर्ती आकार का ग्रहण -इस प्रकार परिणाम जो निरन्तर प्रवर्तमान रहता है, वही ‘अर्थक्रियाकारिता’ है या उन परिणामों पर ही अर्थक्रिया की उपपत्ति सम्भव हो पाती है।

वस्तुतः सत्ता और अर्थक्रिया का शाश्वत घनिष्ठ सम्बन्ध है।<sup>51</sup> वस्तु में उक्त त्रिलक्षणात्मकता न मानी जाये तो अर्थक्रिया नहीं हो सकती।<sup>52</sup> दूसरी तरफ जहां अर्थक्रिया नहीं, वहां 'सत्ता' भी नहीं है। दूसरे शब्दों में जो अर्थक्रियाकारी है, वही परमार्थतः 'सद्' या द्रव्य है।<sup>53</sup> इस दृष्टि से वस्तु का लक्षण 'अर्थक्रियाकारित्व' किया जाना भी जैन दार्शनिकों को अभीष्ट रहा है।

जैन दार्शनिकों ने धर्म, अधर्म, आकाश व काल में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक रूप त्रिलक्षण सत्ता के आधार पर स्व-परप्रत्यय उत्पाद-व्यय रूप परिणति के रूप में 'अर्थक्रियाकारित्व' का प्रतिपादन किया है।<sup>54</sup>

संक्षेप में उक्त अर्थक्रिया सक्रिय, निष्क्रिय, मूर्त, अमूर्त आदि समस्त अस्तित्वयुक्त पदार्थों में अनादि-निधन रूप से, सूक्ष्मतम निरवच्छिन्न आन्तरिक परिणति-परम्पराओं के रूप से प्रवर्तमान रहती है। दूसरे शब्दों में यह अर्थक्रिया पदार्थमात्र के अस्तित्व या सत्ता का अविनाभूत अंग है।

### अनेकान्तात्मकता और अर्थक्रिया

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त प्रत्येक वस्तु को निरूपण करने के लिए दो प्रमुख दृष्टियां हैं- द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।<sup>55</sup> द्रव्यार्थिक नय 'द्रव्य' (ध्रुवत्व) को प्रमुखता देकर वस्तु का निरूपण करता है, अतः उसके अनुसार वस्तु 'स्यात् नित्य' है। पर्यायार्थिक नय 'पर्याय' को प्रमुखता देकर वस्तु का निरूपण करता है, अतः उसके अनुसार वस्तु 'स्यात् अनित्य' है। अतः वस्तु का समग्र रूप 'स्यात् नित्यानित्यात्मक' प्रतिपादित होता है। इस अनेकान्तात्मक स्वरूप को स्वीकार करने पर ही 'अर्थक्रिया' की उपपत्ति या संगति हो पाती है अन्यथा नहीं।<sup>56</sup> एकान्त क्षणिक या एकान्त नित्य, दोनों स्वरूपों में अर्थक्रिया की संगति नहीं हो पाती, अतः उसका वस्तुत्व या अस्तित्व ही असंगत हो जाता है। अस्तित्व-वस्तुत्व और अर्थक्रियाकारित्व- ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

एकान्त क्षणिक वस्तु एक क्षण तक ही ठहरती है, अतः उस में, उसी देश में और क्षणान्तर काल में नष्ट भी हो जाती है। इस तरह उस वस्तु में देशकृत व कालकृत अर्थक्रिया सम्भव नहीं हो सकती। निरंश होने से उसमें एक साथ अनेक स्वभाव भी नहीं रह सकते, इसलिए एक ही क्षण में एक साथ अनेक कार्य सम्भव नहीं हो सकते, क्योंकि एक स्वभाव से तो एक कार्य ही हो पाएगा।<sup>57</sup>

इसी तरह एकान्त नित्य वस्तु में भी अर्थक्रिया असम्भव है। नित्य वस्तु तो सर्वदा एकरूप रहती है, उसमें क्रम से अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा मानने पर उसकी एकरूपता या नित्यता के खण्डित होने का प्रसंग होगा। यदि वह एक ही समय में सभी कार्यों को एक साथ



उत्पन्न करे तो कार्यो में भेद नहीं हो सकेगा, क्योंकि कारण-भेद से ही कार्य-भेद सम्भव होता है। अक्रम से, युगपत् (एक साथ) अर्थक्रिया होना माना जाये तो दूसरे क्षणों में वह वस्तु अकिञ्चित्कर (अर्थक्रियाहीन) हो जाएगी।<sup>58</sup>

इस तरह एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य, दोनों ही वस्तुओं में अर्थक्रिया की संगति न होने से उस वस्तु का वस्तुत्व ही खण्डित हो जाएगा।<sup>59</sup>

बौद्धों ने जो क्षणिक परमाणुओं की स्थिति मानी है, उसका खण्डन जैन ग्रन्थों में विशेषतः अर्थक्रिया-असंगति के आधार पर किया गया है। क्षणिक परमाणुओं में परस्पर-सम्बद्धता न मानी जाये तो किसी 'ध्रुव' तत्त्व के न होने से घटादि द्वारा जल-आहरण या धागों से वस्त्र-निर्माण आदि की अर्थक्रियाएं नहीं हो पाएंगी।<sup>60</sup>

### अर्थक्रिया और वर्तना आदि

जैन दार्शनिकों ने क्रिया, परिणाम (भाव) व वर्तना-इसमें कुछ अन्तर व साम्य माना है। अर्थक्रिया के प्रसंग में इनका स्पष्टीकरण भी अपेक्षित है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्य का अविनाभूत स्वभाव है।<sup>61</sup> वर्तना व क्रिया भी उस 'परिणाम' में ही अन्तर्भूत हैं। किन्तु किसी स्वरूप-विशेष को प्रमुखता देने या अधिक स्पष्टता देने की दृष्टि से 'परिणाम', 'वर्तना' व 'क्रिया' - इन्हें पृथक्-पृथक् रूप में अभिहित किया जाता है।

अपनी मूल सत्ता को नहीं छोड़ते हुए पूर्व पर्याय की निवृत्तिपूर्वक नवीन पर्याय का प्रादुर्भाव रूप जो विकार है, वह चाहे स्वाभाविक हो या प्रायोगिक (परनिमित्तक), उसे 'परिणाम' कहा गया है।<sup>62</sup>

प्रत्येक द्रव्य जिस स्वभावरूप से अपनी सत्ता-प्रवाह को बनाये रखता है या द्रव्य की अपनी मर्यादा के भीतर उसमें प्रतिसमय जो पर्याय होता है, उसे भाव, तत्त्व या परिणाम कहा जाता है।<sup>63</sup> जीव में क्रोध आदि और पुद्गल में वर्णादि विकार उसके परिणाम हैं। धर्म आदि द्रव्यों में भी 'अगुरुलघुगुण' की वृद्धि-हानि से प्रतिक्षण परिणामन होता है।<sup>64</sup>

अब 'वर्तना' के स्वरूप पर विचार करें। हर एक द्रव्य-पर्याय में जो हर समय स्वसत्ता-अनुभवन होता है, उसे 'वर्तना' कहा जाता है अर्थात् एक अविभागी समय में जो छहों द्रव्य स्वतः ही अपनी सादि और अनादि पर्यायों से- जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं-वर्तन कर रहे हैं, अस्तित्व बनाये रहते हैं, उस वर्तन को ही 'वर्तना' कहा जाता है।<sup>65</sup>

वर्तना व परिणाम में सूक्ष्म अन्तर भी किया जा सकता है। जहां द्रव्य-पर्यायें 'परिणाम' हैं, <sup>66</sup> वहां उन सूक्ष्म पर्यायों में होने वाला सद्रूप परिणामन 'वर्तना' है।<sup>67</sup> पं. राजमल्ल जी के शब्दों में द्रव्यों में उनके अपने रूप से होने वाले 'सत्परिणामन' का नाम 'वर्तना' है। दूसरे शब्दों में,

जीवादि छहों द्रव्यों का अस्तित्व रूप (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) जो स्वात्मपरिणामन है, वह 'वर्तना' है। इस वर्तना में उपादान कारण तो तत्तद् द्रव्य है और उदासीन, अप्रेरक, निष्क्रिय कारण 'काल' द्रव्य है।<sup>68</sup>

'क्रिया' भी परिणाम, भाव या सत्ता का ही एक रूप है।<sup>69</sup> द्रव्य का परिस्पन्दात्मक परिणामन उसकी 'क्रिया' है, जबकि अपरिस्पन्दात्मक (पर्याय) मात्र 'परिणाम' हैं।<sup>70</sup> प्रदेश-चलनात्मक योग्यता का नाम 'क्रिया' है और परिणामनशील योग्यता का नाम 'भाव' या 'परिणाम' है, किन्तु परिस्पन्दात्मक परिणामन मात्र जीव व पुद्गल-इन दोनों में ही होता है, अतः क्रियारूप योग्यता जीव व पुद्गल-इन दोनों में ही मानी गई है।<sup>71</sup> जीव व पुद्गल में भाव रूप योग्यता तथा क्रियारूप योग्यता दोनों हैं, किन्तु धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों में मात्र परिणामनशील योग्यता ही है।<sup>72</sup> द्रव्यों के निष्क्रिय व सक्रिय-इन विभागों की पृष्ठभूमि में विचार करते हुए जैन दार्शनिकों ने देशान्तर-प्राप्ति का हेतुभूत जो पर्याय/परिणामन है, उसे क्रिया कहा है।<sup>73</sup> उक्त परिस्पन्दात्मक क्रिया धर्म व अधर्म में नहीं है, इसलिए उन्हें निष्क्रिय माना गया है। वास्तव में परिणाम-लक्षण क्रिया तो धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में भी रहती है।<sup>74</sup>

आचार्य विद्यानन्द के मत में 'परिणाम' भी क्रियारूप ही है- 'परिणामलक्षणया क्रिया'।<sup>75</sup> अतः इस दृष्टि से धर्म, अधर्म ही नहीं, अपितु कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जो क्रियारहित हो, क्योंकि परिणामन सभी द्रव्यों का स्वभावभूत धर्म है (सर्वस्य वस्तुनः परिणामित्वात्<sup>76</sup>)। वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद आदि क्रिया यदि न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही निरस्त हो जाएगा। आचार्य विद्यानन्द के शब्दों में "भले ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल-इन निष्क्रिय द्रव्यों में परिस्पन्द-लक्षण क्रिया न हो तथापि प्रतिक्षण उत्पाद आदि 'परिणतिरूप क्रिया' तो होती है, अन्यथा उनके अस्तित्व को ही नकारना होगा-

इत्यपास्तं परिस्पन्द-क्रियायाः प्रतिषेधनात्।

उत्पादादिक्रियासिद्धेः, अन्यथा सत्त्वहानितः॥<sup>77</sup>

लोक का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व तो हो किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणति रूप क्रिया से रहित हो, यदि यह परिणति-क्रिया न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही संगत नहीं हो पाएगा। परिणतिरूप क्रिया से युक्त होने के कारण, वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य सक्रिय है,<sup>78</sup> और पर्यायार्थिक नय से प्रत्येक द्रव्य निष्क्रिय।<sup>79</sup>

### अगुरुलघुगुणकृत अर्थक्रिया

प्रत्येक पदार्थ में निहित 'अगुरुलघु' गुण व उसके अविभागी गुणांशों में प्रतिसमय होने वाली षड्विध हानि-वृद्धि का निरूपण भी यहां प्रासंगिक है। धर्म, अधर्म, आकाश आदि

अमूर्त व निष्क्रिय द्रव्यों में भी स्वप्रत्यय या परप्रत्यय उत्पाद-व्यय कैसे सम्भव हैं-इस प्रसंग में- जैन आचार्यों ने अगुरुलघुगुण की चर्चा की है। इस गुण की षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि के कारण सभी द्रव्यों में स्वप्रत्यय-उत्पाद-व्यय (परिणमन) प्रतिक्षण प्रवर्तमान रहते हैं।<sup>80</sup>

प्रत्येक पदार्थ में अनन्त गुण होते हैं जिनमें प्रत्येक अनन्त-अनन्त अविभागी गुणांशों से युक्त होता है। इन गुणांशों के आधार पर द्रव्य में छोटापन, बड़ापन आदि विभाग सम्भव हो पाते हैं। इन गुणांशों को अविभागी प्रतिच्छेद भी कहा जाता है। द्रव्य के अनन्त गुणों में अस्तित्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व-- ये छः सामान्य गुण हैं। जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप में नहीं बदलता या एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप में नहीं बदलती, वह 'अगुरुलघु' गुण है। इस गुण के अविभागी प्रतिच्छेदों के छः प्रकारों से कम होने और बढ़ने को छः गुनी हानि-वृद्धि कहा जाता है।

अनन्तभागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यात-गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि-- ये छः वृद्धियां हैं। अनन्तभागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनन्त गुण हानि-- ये छः हानियां हैं। दोनों मिल कर 'षट्स्थानपतित हानिवृद्धि' कहलाती हैं।<sup>81</sup>

धर्म आदि द्रव्यों में अपने-अपने अगुरुलघु गुण के परिणमन से स्वप्रत्यय उत्पाद व व्यय होता रहता है। जब किसी दूसरे के निमित्त से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि एक प्रदेश को छोड़ कर दूसरे प्रदेश के साथ सम्बद्ध होते हैं तब धर्म, अधर्म आदि में परप्रत्यय उत्पाद व व्यय का होना माना जाता है। अगुरुलघु गुण का पूर्व अवस्था का त्याग होने पर व्यय, उत्तर अवस्था की उत्पत्ति होने पर उत्पाद माना जाता है। सभी स्थितियों में मौलिक स्वरूप जो बना रहता है, वह 'ध्रौव्य' है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अर्थक्रिया का जो सूक्ष्म, व्यापक एवं वैज्ञानिक विवेचन जैसा जैन ग्रन्थों में मिलता है, वैसा अन्य दर्शनों में प्राप्त नहीं होता और इसमें सन्देह नहीं कि उक्त विवेचन पूर्णतः मौलिक व गम्भीर है।

## सन्दर्भ

1. इह यत् क्रियते कर्म, तत्परत्रोपसृज्यते।  
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता॥, महाभारत- 3/261/35
2. गायन्ति देवाः किल गीतिकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।  
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥, विष्णुपुराण, 2/3/24

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे, मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥, भागवत, 5/19/2  
तुलना- दुल्लहे खलु माणुसे भवे, उत्तरा. 10/4

3. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः, ईशोपनिषद्- 2, यजुर्वेद 40/2
4. आमनायस्य क्रियार्थत्वात्, मीमांसासूत्र- 1/21
5. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्, गीता- 3/5  
शरीरयात्राऽपि च ते, न प्रसिद्धोदकर्मणः, गीता-3/8
6. किरातार्जुनीय काव्य (भारवि)
7. अनिर्दिष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः।  
शास्त्रमाद्रियते, तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम्॥, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रारम्भ-प्रकरण
8. न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमुत्पादयति, एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्, यथैक एव बन्धिः दाहकः,  
पाचकः प्रकाशकश्चेति, सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका 9
9. महाभारत, 12/75/29
10. कर्मैव गुरुरीश्वर, भागवत पुराण, 10/24/17,  
तुलनाः कम्मसच्चा हु पाणिणो, उत्तराध्ययन 7/20
11. यः क्रियावान् स पण्डितः, महाभारत, 3/313/110, न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः,  
गीता-11/48, आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान्, मुंडक उपनिषद्-3/1/4
12. संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः, सर्वार्थसिद्धि, 2/10,  
संसरन्ति अनेन चतसृषु गतिषु इति संसारः, धवला- 13/5,4,17/44,  
गच्छति संसरति इति जगत् (कोश),  
स्थितिजनननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्, स्वयंभूस्तोत्र- 114,  
एवं जं संसरणं णाणादेहेसु होदि जीवस्सा  
सो संसारो भण्णादि मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स,  
स्वामी कार्तिकेय-कृत द्वादशानुप्रेक्षा, 32-33
13. (क) आत्मनं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु, कठोपनिषद् 3/3  
(ख) उत्तराध्ययन- 23/73, सरीरमाहु नावत्ति
14. अहं ममेत्यसद्ग्रहः करोति कुमतिर्मतिम्।  
तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम्॥ भागवत- 3/31/30-31
15. अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।  
मनसा लिंगरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा, भागवत- 4/29/35

16. संसारचक्र एतस्मिन् जन्तुरज्ञानमोहितः।  
भ्राम्यन् सुखं च दुःखं च, भुंक्ते सर्वत्र सर्वदा , भागवत- 6/17/18
17. स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव, रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।  
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च , श्वेताश्वतरोप. 5/12
18. जहा य तिन्नि मूलं धेतूण निगया।  
एगोत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ।।  
एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।  
ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह।।  
माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।  
मूलच्छेएण जीवाणं नरगतिरिक्खत्तणं धुवं।  
दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।  
देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे।।  
तओ जिए सइं होइ दुविहं दोग्गइं गए।  
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा अद्दाए सुइरादवि।। उत्तराध्ययन- 7/14-18।
19. उत्तराध्ययन- 7/11-13
20. उत्तराध्ययन- 14/47, सूत्रकृतांग- 1/12/14
21. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।  
जंसी विसण्णा विसयंगणाहिं दुहतो वि लोकं अणुसंचरंति, सूत्रकृतांग- 1/12/14।  
जम्मणमरणपुणब्भ-वमणंतभवसायरे भीमे, मूलाचार- 7/5  
सुट्टु असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे।  
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्चयदो।  
स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षा, 62, उत्तराध्ययन- 19/16
22. द्र. राजवार्तिक- 9/7, सर्वार्थसिद्धि- 2/10, आदि।
23. स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षा, 68
24. (क) यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः  
पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन, बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/5, कठोपनिषद् 2/5/7,  
(ख) पावेहि पेच्चा गच्छेइ दोग्गतिं, इसिभासिय, 33/6, उत्तराध्ययन- 4/3, 13/24, 33/  
1, 10/15, एवं भवसंसारे संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं। जीवो पमादबहुल, सुचिण्णा  
कम्मा सुचिण्णफला भवंति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति, औपपातिक, 56, द्र.  
सूत्रकृतांग- 1/2 (3) 18, 1/2 (1)4, 1/7/11

25. (क) भागवत- 3/31/30-31, 6/17/18,  
 (ख) दशाश्रुत- 5/14 , एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए, संसारमूलहेतुषु मिच्छत्तं, भगवती आराधना-724, संसारअडवीए मिच्छत्तन्नाणमोहिअपहाए, आवश्यकनियुक्ति909
26. (क) पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपेति, मुंडकोप. 3/3,  
 कृतकर्मनाशः कर्मक्षये भाति स तत्त्वतोऽन्यः, श्वेताश्वतरोप. 6/4  
 (ख) णिज्जरियसव्वकम्मो... पावदि सुखमणंत, मूलाचार- 749,  
 कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ , दशवैकालिक- 4/24
27. (क) श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/7-8, 11, 16, 19  
 (ख) उत्तराध्ययन- 29/1, 36/66-67, सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य, मोक्षप्राभूत- 35,  
 केवलणाणुवत्ता जाणंती सव्वभावगुणभावे। पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहिं  
 णंताहिं, औपपातिक- 195/12  
 णडकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा, द्रव्यसंग्रह-51  
 परमात्मा सकलविषयविषयात्मा, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय- 223-24
28. तुलना : जैन मत, जणाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया, -कुन्दकुन्दकृतद्वादशानुप्रेक्षा, 57
29. क्रियानिष्पाद्यस्य तु मोक्षस्य अनित्यत्वं प्रसञ्जयति, अमलानन्द-कृत वेदान्त कल्पतरु, 1/1/4  
 अक्रियार्थत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपविधिपराः वेदान्ताः भविष्यन्ति , भामती, 1/1/4
30. द्र. सांख्यकारिका, कारिका 10, सक्रियं परिस्पन्दवत्। तथा हि बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं परित्यजन्ति, देहान्तरं चोपाददते -इति तेषां परिस्पन्दनम्, सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका 10
31. प्रकृतिक्षोभात् सृष्टिश्रवणेन प्रकृतेरपि कर्मवत्तया.... सांख्यसूत्र 1/24 पर प्रवचनभाष्य
32. परिणामलक्षणया तु क्रिया सक्रियौ एव, अन्यथा वस्तुत्वविरोधात्, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक- 5/7  
 द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् सर्वे भावाः उत्पादव्यय दर्शनात् सक्रिया अनित्याश्च,  
 राजवार्तिक- 5/7/25
33. से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई , आयारो, 1/5
34. द्र. धवला- 9/4, 1, 45/203, 9/4, 1, 45, 207, 1/1, 1, 2/107,  
 गोम्पटसार, कर्मकाण्ड- 884-885, 877, तत्त्वार्थराजवार्तिक- 1/20/12
35. तत्र न कर्तारं विना क्रियासम्भवः इति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति, तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः।  
 ते पुनरात्मादि-अस्तित्वप्रतिप्रत्तिलक्षणाः, नन्दी सूत्र, हरिभद्रीयवृत्ति, पृ. 100
36. द्र. भगवई, 9/156-234, 'क्रियमाण कृत' का समर्थन  
 आचार्य अकलंक-कृत राजवार्तिक, 1/33/7)।

37. य उपदेशः क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम क्रियानयः इत्यर्थः, दशवैकालिक निर्युक्ति, हरिभद्रीयवृत्ति-149 व 371, पृ. 81 व 286  
मग्नाः कर्मनयावलम्बनपराः ज्ञानं न जानन्ति यत्, मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः, आत्मख्याति-कलश-111  
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः, आत्मख्याति, कलश- 267
38. उत्तराध्ययन- 2/25, प्रज्ञापना, गाथा 128, प्रवचनसारोद्धार- 958,
39. शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव 'तद्वस्तु' इति भूतः- एवम्भूतः, सन्मतितर्क, अभय. वृत्ति, 3, पृ. 314, न हि कश्चिद् अक्रियाशब्दोऽस्य अस्ति, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, 4/1/33
40. जीवादितत्त्वे नयभेदविकल्पितस्वरूपे या प्रतिपत्तिः सा क्रिया, अनुयोग द्वार, चूलिका, पृ. 86
41. लेखादिकाः कला द्वासप्ततिः गुणाः, चतुःषष्टिः खैणाः, शिल्पानि-काव्यगुणदोषक्रिया-छन्दोविचिक्रिया- कलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्याताः, तत् क्रियाविशालम्, तत्त्वार्थराज-वार्तिक, 1/20/12
42. उभयनिमित्तापेक्षया पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तर-प्राप्तिहेतुः क्रिय, तत्त्वार्थ राजवार्तिक-5/7/1
43. भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गला, पंचाध्यायी 2/25  
सामर्थ्यात् सक्रियौ जीवपुद्गलौ इति निश्चयः, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-5/7, श्लोक-2, पृ. 45 शोलापुर सं.,  
जीवपुद्गलानां स्वतः परतश्च क्रियापरिणामित्वम् सिद्धम्, तत्त्वार्थ राजवार्तिक- 5/7/6  
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-5/7 पर श्लोक 46-47, पृ. 400
44. चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च।  
क्रिया मनोवचः-कायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम्॥ आलाप पद्धति
45. अर्थक्रिया सुखदुःख-उपभोगः, स्याद्वादमंजरी, कारिका 27, पृ. 238  
सुख-दुःखभोगौ पुण्यपाप-निर्वर्त्यौ, तन्निर्वर्तनं च अर्थक्रिया, स्याद्वादमंजरी कारिका 27, पृ. 236
46. अर्थस्य-ज्ञानस्य अन्यस्य वा, क्रिया=करणम्, न्यायकुमुदचन्द्र- 2/8, पृ. 372
47. एकाऽपि हि नर्तकी करण-अंगहार-भ्रूभङ्ग-अक्षिविक्षेपादि-लक्षणाम्, प्रेक्षकजनानां हर्षविषादादिलक्षणां वा अनेकाम् अन्योन्यविलक्षणाम् अर्थक्रियां करोति इति, न्यायकुमुदचन्द्र, 2/कारिका 7, पृ. 362
48. ग्राह्यग्राहकता एतेन बाध्यबाधकताऽपि वा, कार्यकारणासिर्वा,  
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-ख/1 सूत्र, पद्य-148  
अशेषग्राह्यग्राहकतादिअर्थक्रियानिमित्तं, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक- 1/1 सूत्र, पद्य-154

49. द्र. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा- .12 आदि।
50. पूर्वाकारपरिहारोत्तराकारस्वीकार-अवस्थानस्वरूपलक्षणपरिणामेन वस्तूनाम् अर्थक्रियाकारिता स्याद्वादादरहस्य, पृ. 9  
 अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थितिलक्षण-परिणामेन अर्थक्रिया-उपपत्तेश्च ,परीक्षामुख-4/2  
 स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहार-स्वीकारस्थिति-लक्षणपरिणामेन भावानाम् अर्थक्रिया-उपपत्तिः अविरोद्धा, स्याद्वादमंजरी, कारिका 5, पृ. 26
51. सत्त्वम् अर्थक्रियाकारित्वेन व्याप्तम्, न्यायवतारवार्तिक-वृत्ति, कारिका 34, पृ. 87, अस्त्विं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, प्रवचनसार-2/96 टीका  
 अर्थक्रियाकारित्वस्य भावलक्षणत्वात्... अर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सतां व्यावर्तयेत्, स्याद्वाद-मंजरी, कारिका 26, पृ. 234
52. त्रिलक्षणभावत-अवस्तुनि... अर्थक्रिया-अभावात्, धवला-4/1/45, पृ.-142,  
 पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणो हि परिणामः, न पूर्वोत्तरक्षणविनाशोत्पादमात्रं स्थितिमात्रं वा प्रतीत्यभावात्। स च क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकतया संप्रतीयते... ते च निवर्तमाने अर्थक्रियासामान्यं निवर्तयतः, ताभ्यां तस्य व्यापकत्वात्, लघीयस्त्रय- 2/8, पृ. 4  
 वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रियाकारित्वम्, स्याद्वादमंजरी, कारिका 14, पृ. 124  
 यदेव अर्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थसत्, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-1/1 सूत्र, श्लोक. 154
53. अर्थक्रियासमर्थं हि परमार्थसत्-अंगीकृत्य, लघीयस्त्रय-2/8, पृ. 4  
 वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रियाकारित्वम्, स्याद्वादमंजरी, कारिका 14, पृ. 124  
 यदेव अर्थक्रियाकारि, तदेव परमार्थसत्, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-1/1 सूत्र, श्लोक 154  
 न च अर्थक्रियारहितं वस्तु सत्, खरशृंगवत्, अर्थक्रियाकारिण एव वस्तुनः सत्त्व-उपपत्तेः, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-5/31, पृ 435
54. द्रष्टव्यः राजवार्तिक-5/7/3, 5/39/2, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक 5/22  
 धर्मादीनां येनात्मना भवनं स परिणामः... स द्विविधः, अनादिः आदिमांश्चा... द्रव्याधिक-पर्यायार्थिकनय-द्वयविवक्षावशात् सर्वेषु धर्मादिद्रव्येषु स उभयः परिणामोऽवसेयः। अयं तु विशेषः-धर्मादिषु चतुर्षु द्रव्येषु अत्यन्तपरोक्षेषु-अनादिः आदिमांश्च परिणामः आगमगम्यः, जीवपुद्गलेषु कथंचित् प्रत्यक्षगम्योऽपि, तत्त्वार्थ राजवार्तिक-5/42/1-4
55. तत्त्वार्थ राजवार्तिक-5/38/2, सन्मतिप्रकरण-1/2-3,
56. परीक्षामुख-4/2, पंचाध्यायी-1/315-316, क्रमेण युगपद् वा अनेकधर्मात्मकस्यैव अर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वं प्रतिपत्तव्यम्, न्यायकुमुदचन्द्र, 2/कारिका 8, -पृ. 374



57. प्रमेयकमलमार्तण्ड-4/10, पृ. 601,

न च क्षणिकस्य वस्तुनः क्रम-योगपद्याभ्याम् अर्थक्रियाविरोधः असिद्धः, तस्य देशकृतस्य कालकृतस्य वा क्रमस्य असम्भवात्। अवस्थितस्य एकस्य हि नानादेशकालकला-व्यापित्वं देशक्रमः, कालक्रमश्चाभिधीयते। न च क्षणिके सोऽस्ति, प्रमेयरत्नमाला-4/1 पर, पृ. 269 स्याद्वादमंजरी, कारिका 16, पृ. 156-158), कारिका 5, पृ. 24-25

58. न हि नित्यैकान्ते परिणामोऽस्ति, त. श्लोकवार्तिक- 5/22, पृ. 416 मुम्बई सं.

न हि नित्यस्य क्रमेण युगपद् वा सा सम्भवति, नित्यस्य एकेनैव स्वभावेन पूर्वापरकालभाविकार्यद्वयं कुर्वतः कार्यभेदकत्वात् तस्यैकस्वभावत्वात्, तथापि कार्यनानात्वे अन्यत्र कार्यभेदात् कारणभेदकल्पना विफलैव स्यात्, प्रमेयरत्नमाला, 4/1 सू. पृ. 258-259, स्याद्वादमंजरी, कारिका 5, पृ. 22-24

59. क्रिया क्षणक्षयैकान्ते पदार्थानां न युज्यते। भूतिरूपापि वस्तुत्वहानेरैकान्तनित्यवत,

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक- 5/22, श्लोक. 42, पृ. 418 मुम्बई सं.

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः। क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता, लघीयस्त्रय-2/8, पृ. 4

न च नित्यैकान्ते क्षणिकैकान्ते वा क्रमयोगपद्ये संभवतः, न्यायकुमुदचन्द्र 2/8 पर, पृ. 372, सत्त्वान्यथानुपपत्तेः सर्वं नित्यानित्यात्मकम्, यथा घटः एकान्तनित्ये अनित्ये वा अर्थक्रियाविरोधात्, न्यायावतार सूत्र- वार्तिक-वृत्ति, 2/कारिका-35

60. अणूनाम् अन्योन्यम् असम्बद्धतो जलधारण-आहरणादि-अर्थक्रियाकारित्व-अनुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनाम् एकदेशापकर्षणे तदन्याकर्षणे च असम्बद्धवादिनो न स्यात्, सत्यशासनपरीक्षा-पृ. 25, द्र. स्याद्वादमंजरी, कारिका 16, पृ. 156-158.

61. अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, प्रवचनसार-2/96 टीका, तत्त्वार्थ राजवार्तिक-5/30/5-6

62. द्रव्यस्य स्वजाति-अपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः, राजवार्तिक- 5/22/10

63. तद्भावः परिणामः, तत्त्वार्थसूत्र- 5/42

द्रव्याणि येन आत्मना भवन्ति, स तद्भावः तत्त्वं परिणाम इत्याख्यायते

तत्त्वार्थ राजवार्तिक- 5/42/2 सर्वार्थसिद्धि-5/22

64. धर्माधर्माकाशानाम् अगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः (परिणामः), सर्वार्थसिद्धि- 5/22

65. प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतिकसमया स्वसत्तानुभूतिः वर्तना... एकस्मिन् अविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैः आदिमद्-अनादिमद्भिः उत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैः वर्तन्ते-इति कृत्वा तद्-विषया वर्तना राजवार्तिक-5/22/4

अन्तर्गतैकसमयः स्वतन्त्राभवे भिदा।

यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते।

धर्मादीनां हि वस्तूनाम्, एकस्मिन् अविभागिनि।

समये वर्तमानानां स्वपर्यायैः कथंचन।

उत्पादव्यय-ध्रौव्यादिविकल्पैः बहुधा स्वयम् प्रयुज्यमानतान्येन वर्तना कर्म भाव्यते,

तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/22/1-4

66. तद्भावः परिणामोऽत्र, पर्यायः प्रतिवर्णितः, तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/42 पर श्लोक. 1, द्रव्यस्य पर्यायः धर्मान्तरनिवृत्ति- धर्मान्तरोपजननरूपः परिणामः, सवार्थसिद्धि-5/22
67. द्रव्याणाम् आत्मना सत्परिणामनम् इदं 'वर्तना', अध्यात्म- कमलमार्तण्ड
68. धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद् विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्य उपकारः, सर्वार्थसिद्धि-5/22
69. भावः सत्ता क्रिया-इत्यनर्थान्तरम्, राजवार्तिक-5/30/4
70. देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मको हि परिणामः अर्थस्य कर्म उच्यते, प्रमेयकमलमार्तण्ड-4/10, पृ. 600  
द्रव्यस्य भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः, अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रिया इत्याख्यायते, इतरः परिणामः, राजवार्तिक-5/22/21  
परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते।  
क्रिया देशान्तरप्राप्तिहेतुः, तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/22/39
71. पंचाध्यायी -2/25, त. श्लोकवार्तिक- 5/7 पर श्लोक. 2, पृ.-45 शोलपुर सं.
72. पंचाध्यायी-2/24-27,
73. राजवार्तिक -5/7/1, तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/7,
74. धर्माधर्मौ परिस्पन्दलक्षणया क्रिया निष्क्रियौ।  
सकलजगद्-व्यापित्वाद् आकाशवत्।  
परिणामलक्षणया तु क्रिया सक्रियौ एव,  
अन्यथा वस्तुत्वविरोधात्, तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/7
75. तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/7
76. तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक-5/22, पृ. 418 मुम्बई संस्करण
77. तत्त्वार्थं श्लोकवार्तिक- 5/7 पर श्लोक-9
78. द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा उत्पादव्यदर्शनात् सक्रिया अनित्याश्च,  
तत्त्वार्थं राजवार्तिक- 5/7/25, पंचास्तिकाय. 21 व टीका

79. पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् सर्वे भावा अनुत्पादव्ययदर्शनात् निष्क्रिया नित्याश्च, तत्त्वार्थ राजवार्तिक-5/7/25, पंचाध्यायी-ख/247, स्याद्वादमंजरी, कारिका-23, पृ.204-205
80. क्रियानिमित्त-उत्पादाभावेऽपि एषां धर्मादीनाम् अन्यथा उत्पादः कल्प्यते। तद्यथा- द्विविध उत्पादः। स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनन्तानाम् अगुरुलघुगुणानाम् आगमप्रामाण्याद् अभ्युप-गम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेशाम् उत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादेः गतिस्थिति-अवगाहनहेतुत्वात्, क्षणे क्षणे तेषां भेदात् तद्वेतुत्वमपि भिन्नम् -इति परप्रत्यापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवहियते, स. तत्त्वार्थ राजवार्तिक- 5/7/3
- षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूप- प्रतिष्ठत्वकारण-विशिष्टगुणात्मिका, अगुरुलघुत्वशक्तिः, समयसार-आत्मख्याति, कलश- 263 पर
81. द्र. गोम्मटसार, जीवकाण्ड आदि।

प्रोफेसर

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।  
 तरस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि ति णादव्वो ॥  
 णाणरस पडिणिबद्धं, अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं ।  
 तरस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होदि णादव्वो ॥  
 चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं ।  
 तरस्सोदएण जीवो, अचरित्तो होदि णादव्वो ॥

आचार्य कुण्डकुण्ड लिखते हैं- सम्यक्त्व का प्रतिबंधक है- मिथ्यात्व, ज्ञान का प्रतिबंधक है- अज्ञान और चरित्र का प्रतिबंधक है- कषाय। मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन हमारे जीवन के सबसे बड़े विघ्न हैं, समस्या और दुःख की सृष्टि करने वाले हैं। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं होता तब तक समस्या का चक्र अनवरत घूमता रहता है, अतः दुःख मुक्ति का सूत्र है- सम्यग् दर्शन।

# जैन वाङ्मय व्यवहार भाष्य में चिकित्सा पद्धति

डॉ. साध्वी शुभ्रयशा

जैन वाङ्मय का आगम साहित्य जितना प्राचीन है, उतना ही सामयिक। आगम संकलन के समय आगमों को दो वर्गों में विभक्त किया गया। उत्तरवर्ती वर्गीकरण के अनुसार आगमों के चार विभाग प्राप्त होते हैं-अंग, उपांग, मूल एवं छेदा छेद सूत्र आचार प्रधान है, अतः इनका समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया है।<sup>1</sup> इनका निर्यूहण प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय आचार वस्तु से हुआ है।<sup>2</sup> निर्यूहण काल में छेदसूत्र नाम से कोई विभाग नहीं था। सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में 'छेदसूत्र' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>3</sup>

छेदसूत्र के नामकरण के प्रसंग में विविध मत हैं। जो ग्रंथ निर्मलता, पवित्रता की प्राप्ति में सहायक हो, वह छेद है। व्याख्या साहित्य में इसके लिए पदविभाग समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>4</sup> एक मान्यता के अनुसार जो स्खलना होने पर चारित्र के छेद-काटने का काम करते हैं, वे ग्रंथ छेदसूत्र हैं। निशीथ भाष्य में इन्हें उत्तम श्रुत कहा है। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार इनमें प्रायश्चित्त का वर्णन है, इनसे चारित्र की विशोधि होती है, इसलिए छेद सूत्र को उत्तमश्रुत कहना युक्तियुक्त है।<sup>5</sup>

नामकरण के संदर्भ में आचार्य तुलसी ने एक नवीन तथ्य प्रस्तुत किया है। आपके अनुसार 'छेयसूत्र' के स्थान पर 'छेकश्रुत' शब्द भी हो सकता है। जिसका अर्थ है- कल्याण या उत्तमश्रुत। दशवैकालिक<sup>6</sup> सूत्र में इसका संवादी प्रमाण भी मिलता है- 'जं छेयं तं समायरे'। अतः छेय के स्थान पर छेक शब्द उचित लगता है।

छेदसूत्रों में व्यवहारसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पदविभाग समाचारी का जितना व्यवस्थित वर्णन व्यवहार सूत्र में है, उतना अन्य छेदसूत्रों में नहीं मिलता। इसका निर्यूहण भद्रबाहु ने किया, ऐसा अनेक स्थानों पर उल्लेख है।<sup>7</sup>

प्रस्तुत सूत्र में साधु की आचार संहिता का व प्रसंगवश अपवाद मार्ग का विधान है। इन्हें लौकिक भाषा में दण्ड संहिता, आगमिक भाषा में प्रायश्चित्त सूत्र व

आधुनिक भाषा में चिकित्सा सूत्र भी कहा जा सकता है। प्रायश्चित्त निर्धारक ग्रंथ होने पर भी इसमें प्रसंगवश राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र व मनोविज्ञानशास्त्र का भी विवेचन है।

व्यवहारसूत्र पर पांचवीं, छठीं शताब्दी में संघदास गणि ने व्यवहार भाष्य लिखा।<sup>8</sup> जिसमें विधि निषेध पूर्वक एक ओर जहां आत्मा के कल्याणकारी मार्ग का उपदेश दिया है, वहां दूसरी ओर शरीर, मन व भाव विशुद्धि का विवेचन भी किया है। शरीर, मन व भावों की विशुद्धि के बिना आत्मसाक्षात्कार का स्वप्न साकार नहीं हो सकता। शारीरिक दौर्बल्य, मानसिक विक्षेप और भावों की विकृति आत्मा के कल्याणकारी पथ में अवरोध पैदा कर देती है। भाष्यकार ने तथ्यों को प्रस्तुत करने के लिए दृष्टांत, कथानक आदि का प्रयोग भी बहुलता से किया है।

प्रस्तुत सूत्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें समग्र चिकित्सा पद्धति का निदर्शन है। भाष्यकार ने चिकित्सा का विधि-अपवाद सहित निर्धारण कर, नीतिपरक व मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है। व्यवहार भाष्य में निर्दिष्ट रोगी के प्रति उदारदृष्टिकोण, सकारात्मक चिन्तन व समीचीन व्यवस्था पक्ष चिकित्सा जगत के लिए आदर्श है। शारीरिक रोग, रोग का कारण व निदान का सुव्यवस्थित वर्णन भाष्य में है। मनोविक्षिप्त अवस्था का, उसके हेतुओं का और शोधन का सुन्दर विश्लेषण भी भाष्य में प्राप्त होता है। भाष्य में मन को स्वस्थ करने के व्यावहारिक प्रयोग मनोचिकित्सकों के लिए उपादेय है। आलोचना सूत्र का सम्पूर्ण विस्तार भाव विशुद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। चिकित्सक की अर्हता का उल्लेख भी प्रस्तुत ग्रंथ में उपलब्ध होता है।

अम्मापितीहि जणियस्स, तस्स आतंकपउरदोसेहि।

वेज्जा देति समाधिं, जहिं कता आगमा होंति।<sup>9</sup>

## शारीरिक रोग व चिकित्सा

व्यवहार भाष्य के अनुसार रोग का मूल कारण है-वात, पित्त व कफ का असंतुलन।<sup>10</sup> व्यवहार भाष्य में कहा है-बद्धासन (एक आसन में लम्बे समय तक बैठना) से वात, पित्त और कफ संक्षुब्ध हो जाते हैं। विश्रामणा-विश्राम करने से संतुलित हो जाते हैं। इनके संतुलन से बल बढ़ता है, दृढ़ता बढ़ती है, अर्श-बवासीर आदि रोग नहीं होते। अष्टांग संग्रह में भी कहा है। वातादि दोष निमित्त पाकर विकृत हो जाते हैं, यथा निमित्त पाकर जल में तरंग, बुलबुले आदि पैदा होते हैं।<sup>11</sup>

भाष्य में वात, पित्त प्रकोप के अनेक कारणों का उल्लेख है-शारीरिक अति श्रम करने से, अधिक भ्रमण करने से, अधिक भार उठाने से व भार लेकर विषम मार्ग में घूमने से वातादि

संक्षुब्ध हो जाते हैं। अत्यधिक गर्मी में घूमने से पित्त का प्रकोप हो जाता है।<sup>12</sup> उन्माद से भी पित्त बढ़ जाता है। कफ की प्रबलता से श्वास रोग हो जाता है। अजीर्ण, वमन,<sup>13</sup> चर्म रोग, व्रण रोग, ऊर्ध्ववात, विसूचिका, हैजा आदि रोग भी मुख्यतः त्रिदोष के कारण पैदा होते हैं।<sup>14</sup> भाष्य में शारीरिक रोग का मुख्य हेतु वातादि की विषम अवस्था माना है। इनकी साम्यावस्था आरोग्य का हेतु है। आयुर्वेद में भी कहा है- वातादि की वृद्धि या क्षय से शरीर रुग्ण हो जाता है।<sup>15</sup>

शारीरिक रोग की चिकित्सा के संदर्भ में भाष्यकार ने कहा है-वायुजनित विकार को दूर करने के लिए शरीर पर तैल मर्दन, घृत पान आदि उपचार किया जाता है। रोगी को करीषमय शय्या पर सुलाया जाता है। पित्त के निमित्त से होने वाले उन्माद में शर्करा, क्षीर आदि का प्रयोग कर शांत किया जाता है।<sup>16</sup> सर्पदंश का विष दूर करने के लिए विद्या, मंत्र आदि का सहारा लिया जाता है।<sup>17</sup> अन्य रोगों की चिकित्सा के लिए भी विद्या आदि का प्रयोग किया जाता है,<sup>18</sup> जैसे-

1. आदर्श विद्या-कांच में संक्रान्त रोगी के प्रतिबिम्ब पर जप करना।
2. वस्त्र विद्या-मंत्र से वस्त्र को मंत्रित कर रोगी को उससे प्रावृत्त करना।
3. चापेटी विद्या-दूसरे के चपेटा मारकर रोगी को स्वस्थ करना।
4. व्यजन विद्या-पंखे को अभिमंत्रित कर उससे रोगी पर पवन करना।

इस प्रकार शारीरिक रोग व चिकित्सा के बारे में व्यवहार भाष्य में गाथा 2019 से 2030 व 2430-2441 तक औषध व वैद्य के बारे में विस्तार से दिशा निर्देश दिया है। अयोग्य वैद्य को यमदूत कहा है। इसी संदर्भ में आचार्य के लिए कहा है कि जो राजा सेना, वाहन, कोश तथा बुद्धि से हीन होता है, वह राज्य की रक्षा नहीं कर पाता। ठीक उसी प्रकार जो आचार्य सूत्र, अर्थ और औषध से हीन होता है, वह गच्छ की रक्षा नहीं कर सकता।<sup>19</sup> वैद्यकशास्त्रों के पारगामी वैद्य रोगी को समाधिस्थ कर देते हैं, नीरोग कर देते हैं।

वैद्य कौन श्रेष्ठ, चिकित्सा के लिए औषध कैसे प्राप्त हो, रोगी की असाध्य, साध्य रोग में कैसे सेवा करनी व नीरोग होने पर रोगी स्वावलम्बी कैसे बने, रोग के लक्षण व रोग को शमित करने का उपाय भाष्यकार ने सुन्दर व सटीक किया है जो संवेदनशून्य बनते जा रहे चिकित्सा जगत का मार्गदर्शक कर सकता है।

### मानसिक चिकित्सा

आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर ने कहा है- 'अणेग चित्ते खलु अयं पुरिसे' यह पुरुष अनेक चित्त वाला है।<sup>20</sup> चित्त की मुख्यतः दो अवस्थाएँ हैं-समाधिस्थ एवं असमाधिस्था इन्हें स्वस्थ चित्त व अस्वस्थ चित्त भी कहा जा सकता है। मनोविज्ञान में इन्हें सामान्य एवं असामान्य चित्त कहा जा सकता है।

व्यवहार भाष्य में मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से मन की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है- 1. क्षिप्तचित्त। 2. दृप्तचित्त। 3. उन्मत्तचित्त।

सामान्य या स्वस्थ मन को चिकित्सा की अपेक्षा नहीं। रुग्ण मन बिना चिकित्सा के स्वस्थ नहीं हो सकता। भाष्यकार ने मन को स्वस्थ कैसे किया जाए? मन अस्वस्थ क्यों होता है? उसे स्वस्थ करने के क्या उपाय हो सकते हैं? इनका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत ही सरल और सटीक चित्रण किया है। क्षिप्तचित्त-क्षिप्त चित्त का अर्थ है-चित्त विप्लव या चित्त की रुग्णता। भाष्य में चित्त की विक्षिप्तता के तीन कारण बताए हैं-अनुराग, भय और अपमान।<sup>21</sup>

अनुराग-प्रिय व्यक्ति का वियोग या अनिष्ट होने से होने वाली चित्त की क्षिप्तता। यथा - पति की अकस्मात् मृत्यु का समाचार सुनकर भार्या का क्षिप्तचित्त होना।<sup>22</sup>

भय-विक्षिप्तता का एक बड़ा कारण है-भय। भाष्यकार ने भय के अनेक कारणों का उल्लेख किया है, यथा- हाथी आदि पशुओं को देखकर, शस्त्र, अग्नि आदि देखकर, मेघ का गर्जन सुनकर भी व्यक्ति क्षिप्त चित्त हो जाता है।<sup>23</sup> मनोविज्ञान की भाषा में यह एक प्रकार का असंगत भय है। आधुनिक मनोचिकित्सक इसे फोबिया कहते हैं।<sup>24</sup> इस प्रकार के रोगियों की एक लम्बी सूची है, यथा-ऊँचे स्थान का भय, तूफान, बिजली का भय, अग्नि का भय, जानवर विशेष (कुत्ता, बिल्ली, चूहे) का भय आदि।

अपमान-तिरस्कार या अपमान से भी चित्त विक्षिप्त हो जाता है। यथा-सम्पत्ति छीन लेने से, वाद में पराजित होने से चित्त का विक्षिप्त होना।<sup>25</sup>

दृप्तचित्त-दृप्त का कारण है-विशिष्ट सम्मान की प्राप्ति।<sup>26</sup> जैसे-अग्नि ईंधन से दीप्त होती है, वैसे ही दृप्त चित्त व्यक्ति का मन गर्व से उदीप्त हो जाता है।<sup>27</sup> लाभ मद से मदोन्मत्त अथवा अशक्य कार्य को करके व्यक्ति दीप्तचित्त हो जाता है। भाष्यकार ने राजा सातवाहन के उदाहरण से दीप्त चित्त की मनोवृत्ति का सांगोपांग चित्रण किया है। राजा सातवाहन एक साथ अनेक अतिहर्ष के सामचार सुन दीप्तचित्त हो गया। स्तंभ और भीत को पीटता हुआ प्रलाप करने लगा।<sup>28</sup>

### उन्मत्त चित्त

दिग्मूढ मनः स्थिति के कारण होने वाली चित्त की अवस्था को उन्मत्त चित्त कहा जाता है।<sup>29</sup> दो कारणों से व्यक्ति उन्मत्त बन सकता है। 1. भूतादि यक्षावेश, 2. मोहनीय कर्मोदया<sup>30</sup> अतिरिक्त पित्त के उद्रेक व वायु क्षोभ से भी उन्मत्त चित्त की स्थिति हो जाती है।

### चित्त त्रय की चिकित्सा विधि

क्षिप्त चित्त की चिकित्सा करने के लिए आज जिस पद्धति को मनोचिकित्सा काम में लेते हैं, वही पद्धति हजारों वर्ष पूर्व काम में ली जाती थी। भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण इस

प्रकार किया है-अनुराग से उत्पन्न क्षिप्त चित्त को प्रतिपक्ष भावना का प्रयोग कर दूर किया जाता है। हिंस्र पशु, शस्त्र, अग्नि गर्जारव का भय दूर करने के लिए रोगी को वैसी स्थिति से प्रत्यक्ष करा कर भय को दूर किया जाता है। यथा- अग्नि का स्तम्भन कर मनोरोगी के सामने दूसरे व्यक्ति द्वारा अग्नि को पैरों से कुचला जाता है। इसी प्रकार वाद से पराजित मुनि या व्यक्ति के समक्ष वादी को बुलाकर उसकी भर्त्सना की जाती है। प्रतिपक्षी को कहा जाता है कि तुम वाद में विजय प्राप्त नहीं कर सके, धिक्कार है तुम्हें, ऐसा व्यवहार कर क्षिप्त चित्त को स्वस्थचित्त किया जाता है।<sup>31</sup>

दीप्तचित्तता का मुख्य कारण अहंकार, मद है। दीप्तचित्त व्यक्ति में जो कार्य जितने समय में किया है, उस कार्य को उससे कम समय में कुशलता से संपादित कर उसके गर्व को दूर किया जाता है। यथा- तुमने एक वर्ष में एक करोड़ का धन कमाया, अमुक व्यक्ति एक महिने में एक करोड़ कमाता है। इसे कोई अहंकार नहीं है तो फिर तुम्हें अहंकार क्यों करना चाहिए।

उन्मत्त चित्त की चिकित्सा दुष्कर है, क्योंकि इसमें यक्षावेश के कारण अशुभ पुद्गलों का ग्रहण होता है। अतः मंत्र विद्या आदि के प्रयोग से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। फिर भी रोगी स्वस्थ न हो तो अभिहित कायोत्सर्ग के द्वारा देवता की आराधना कर यक्षावेश की चिकित्सा करनी चाहिए। मोहोदय के कारण उत्पन्न हुई उन्मत्तता को आषाढभूति की तरह बीभत्स रूप दिखाकर स्निग्ध, मधुर आहार व करीषमयी शय्या से दूर करनी चाहिए।<sup>32</sup> पित्त उद्रेक को दूर करने के लिए शर्करा आदि का प्रयोग करना चाहिए।<sup>32</sup>

भय, शोक व चिन्ता से व्यक्ति क्षिप्तचित्त होता है। अतिमद से दीप्तचित्त की स्थिति बनती है। मोह के कारण स्वस्थ मन में असामान्य स्थिति का प्रादुर्भाव होता है। तब व्यक्ति का मन, मस्तिष्क, विचार व कार्य सभी कुछ असाधारण होने लगते हैं। यह असाधारण सृजनात्मक न होकर विध्वंसात्मक हो जाती है तब मन अस्वस्थ हो जाता है। उसे स्वस्थ आलम्बन देकर स्वस्थ किया जाता है। इसका सुन्दर चित्रण भाष्यकार ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

### भावनात्मक चिकित्सा

भावनात्मक रोग का मुख्य कारण है-प्रियता-अप्रियता अथवा राग-द्वेष। भावनात्मक-चिकित्सा से चित्त की शोधि होती है। भाष्यकार ने व्यवहार, शोधि, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि को एकार्थक माना है।<sup>33</sup> मोह चिकित्सा भाव चिकित्सा है, क्योंकि काम, क्रोध, अहंकार, माया आदि मोह की विविध परिणतियाँ हैं, जिनके कारण भाव विकृत होते हैं। भाष्यकार ने कहा है-जो भावशुद्धि नहीं करता वह शल्य सहित मरण को प्राप्त करता है। वह अत्यन्त गहन और आर-पार रहित संसार रूपी अटवी में चिरकाल तक भ्रमण करता है।<sup>34</sup> दशवैकालिक<sup>35</sup> सूत्र में भी कहा है-



कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया व लोभो व पवड्डमाण्णा।  
चत्तारि ए ए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुण्णभवस्सा।

भावनात्मक चिकित्सा में अन्तःकरण की भावना ही चिकित्सा का कार्य करती है।  
व्यक्ति की धृति व संहनन बाह्य शोधि में निमित्त बनते हैं।<sup>36</sup>

काम चिकित्सा के संदर्भ में सूत्रकार ने कहा है-वेदोदीर्ण व्यक्ति की विधिपूर्वक चिकित्सा  
करनी चाहिए। सर्वप्रथम आहार संयम, रस परित्याग का अभ्यास करना चाहिए। यदि उससे भी काम  
पर नियंत्रण न हो तो क्रमशः अवमौदर्य, उपवास तप, ऊर्ध्वस्थान करना चाहिए। ग्रामानुग्राम विहार  
करना चाहिए।<sup>37</sup> भाष्य में 1600-1610 तक की गाथाओं में इसकी चिकित्सा विधि बतलाई है।

क्रोध आदि कषाय चतुष्क दुष्टभाव है। कषाय, मान और माया आदि इसके सहचारी हैं।  
क्रोध करने से आत्मा का पतन होता है। इनका नाश करने से आत्मा का समुत्थान होता है,<sup>38</sup> जैसे  
शीतगृह-जलयंत्रगृह दाह का अपनयन करता है, वंजुल वृक्ष सर्प विष को दूर करता है, वैसे ही  
शुद्ध चिन्तन से व्यक्ति के क्रोधादि भावों का अपनयन करना चाहिए।<sup>39</sup>

माया भी विकृत भाव है। माया का तात्पर्य है-असंयम में रुचि रखना। दूसरों का छिद्रान्वेषण  
करना। माया से अशुचि-अपवित्रता होती है। वह द्रव्य और भाव से दो प्रकार की होती है।  
द्रव्यतः अशुचि है-खाद्य सामग्री के प्रति आसक्ति। भावतः अशुचि है-प्राणातिपात आदि हिंसक  
प्रवृत्तियों में आसक्त होना।<sup>40</sup> भाष्य में यहां तक कहा है कि मायावी को आचार्य आदि पद के  
योग्य नहीं माना जाता है।<sup>41</sup>

इसी प्रकार लोभ की विकृति भी जन्म मरण में निमित्त बनती है। मोह कर्म की जितनी सघनता  
होती है, चिकित्सा भी उतनी ही सघन हो जाती है। राग-द्वेष की अल्पता से भाव अशुद्ध कम होते  
हैं। चिकित्सा भी शीघ्र हो जाती है।<sup>42</sup>

भाव-चिकित्सा के लिए चिकित्सक भी कुशल होना चाहिए। अकुशल चिकित्सक  
भावों की चिकित्सा न करके रोगी को रोगग्रस्त कर देता है। आंतरिक शल्य का जिसके समक्ष  
शोधन किया जाता है, वह यदि उसे कहे-तुम धन्य हो! तुमने शल्योद्धार का साहस किया  
है। गुप्त अपराधों को प्रकट करने का उत्कट साहस किया है। सचमुच! तुम साधुवाद के पात्र  
हो। तुम्हारा ऋजुभाव मेरे लिए भी प्रेरणा है। ऐसे कुशल चिकित्सक के पास व्यक्ति ऋजुता  
से भाव चिकित्सा कर सकता है। इसके विपरीत चिकित्सक के पास व्यक्ति सम्यक् शुद्धि  
नहीं कर सकता। कभी-कभी असह्य ताड़ना से कुपित होकर रोगी चिकित्सक का घात भी  
कर सकता है।<sup>43</sup>

## भाव चिकित्सा के लाभ

जैन वाङ्मय में स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है कि शिष्य गुरु के समक्ष अपनी खलना को प्रकट कर अहोभाव का अनुभव करता है। यहां तक कि एक आचार्य भी भाव-शोधि के लिए दूसरे आचार्य के पास जाता था। एक डॉक्टर अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं करता वैसे ही एक आचार्य अपना शोधन स्वयं नहीं करते। दूसरे आचार्य के समक्ष शोधि के लिए जाते थे। बालक की तरह मद और माया से रहित होकर चिकित्सा (विकृत भावों का शल्योद्धार) करते थे<sup>44</sup>

भाष्यकार ने कहा है कि भाव विशुद्धि करने से लघुता की वृद्धि, आह्लाद की उत्पत्ति, दोषों से निवृत्ति, ऋजुता की वृद्धि, आत्मा की शुद्धि, चारित्र्य विनय की प्राप्ति और निःशल्यता का विकास होता है<sup>45</sup>

उत्तराध्ययन<sup>46</sup> सूत्र में आलोचना के संदर्भ में भाव चिकित्सा की चर्चा करते हुए कहा है- आंतरिक शल्यों की चिकित्सा होती है। ऋजुभाव का विकास होता है। तीव्रतर विकारों से दूर रहने की क्षमता व पूर्व संचित विकारों के संस्कारों का विलय होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में आयुर्वेद, आयुर्विज्ञान व मनोचिकित्सा के महत्त्वपूर्ण सूत्रों का विवेचन है जिनके द्वारा मन, शरीर व भावों का शोधन कर आत्मा पर लगे कर्म रूपी रोग को दूर किया जा सकता है।

### सन्दर्भ ग्रंथ-

1. निशीथ भाष्य, 6190
2. व्यवहारभाष्य, गाथा 4173
3. आवश्यकनिर्युक्ति 777
4. वही, 665, मटी, पृ. 341 पद विभाग समाचारी छेदसूत्राणि
5. नि.भा. 6184/ चूर्णि, पृ. 253
6. दशवैकालिक 4/11
7. (क) दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति- वंदामिभदबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणी।  
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारो।।  
(ख) पंकभा 12.... स भवति दसकप्पववहारो।
8. व्यवहार भाष्य: एक अनुशीलन, पृ. 44
9. व्यवहार भाष्य, 949
10. व्यवहार भाष्य, 93

- |   |                               |
|---|-------------------------------|
| 11. अष्टाग संग्रह, पृ. 657              | 29. वही, 1153                 |
| 12. व्यवहार भाष्य, 2573                 | 30. वही, 1147                 |
| 13. वही, 2574-76                        | 31. वही, 1086-1090            |
| 14. वही, 2533                           | 32. वही, 1148-1156            |
| 15. अष्टाग संग्रह, पृ. 60, गाथा-43, 44  | 33. वही, 1064                 |
| 16. व्यवहार भाष्य, 1152                 | 34. वही, 1022                 |
| 17. वही, 2426                           | 35. दशवैकालिक, 8/39           |
| 18. वही, 2439-2441                      | 36. व्यवहारभाष्य, 4202-4208   |
| 19. वही, 2410                           | 37. वही, 1600, 1601           |
| 20. आचारो, 3/42                         | 38. वही, 4153                 |
| 21. व्यवहार भाष्य, 1078-1079            | 39. वही, 4152                 |
| 22. वही, 1080-1085                      | 40. वही, 1640-1642            |
| 23. वही, 1096                           | 41. वही, 1643                 |
| 24. आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, पृ. 253 | 42. वही, 4045                 |
| 25. व्यवहार भाष्य, 1078, 1090           | 43. वही, 1044                 |
| 26. व्यवहार भाष्य, 1124, टी.प. 36       | 44. व्यवहार भाष्य, 4296, 4297 |
| 27. वही, 1124, 1125                     | 45. वही, 317                  |
| 28. वही, 1126-1130                      | 46. उत्तराध्ययन, 29/6         |

सम्पर्क सूत्र-

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

# निशीथ एवं उसके व्याख्या साहित्य में भारतीय आर्थिक स्थिति

डॉ. साध्वी श्रुतयशा

जैन वाङ्मय में आगम साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। आगमों में चरणकरणानुयोगपरक साहित्य सर्वोत्कृष्ट माना जाता है, क्योंकि आध्यात्मिक उत्थान उसका केन्द्रीय तत्त्व है। चरणकरणानुयोग की दृष्टि से छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने आत्मविशुद्धि के लक्ष्य से प्रत्याख्यान प्रवाद नामक पूर्व से छेदसूत्रों का निर्यूहण किया। निशीथसूत्र उसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसका निर्यूहण काल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी का अन्त तथा तीसरी शताब्दी का प्रारम्भ काल माना जाता है। निशीथसूत्र के हृदय का स्पर्श करने के लिए व्याख्या साहित्य-निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि का भी मनन करना अपेक्षित है, जिनका काल क्रमशः लगभग ईसा की चौथी शताब्दी, भाष्य की चौथी-पांचवी शताब्दी एवं चूर्णि की छठी शताब्दी माना जाता है।

निशीथसूत्र तथा उसके व्याख्या साहित्य का अध्ययन करने पर हमें जहां तत्कालीन जैन संघ की आचार-विचार, नियम-उपनियम एवं विधि-निषेध की जानकारी मिलती है, वहीं अन्यान्य धार्मिक संघों एवं सम्प्रदायों के विषय में भी अच्छी जानकारी मिल जाती है। इतना ही नहीं, प्रसंगवश अनेक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक धारणाओं एवं अवधारणाओं का भी इन ग्रन्थों में समावेश हुआ है।

निशीथसूत्र एवं उसका मुख्य व्याख्या साहित्य मोटे तौर पर एक सहस्राब्दी का प्रतिनिधित्व करता है। विविध वाचनाओं के समय इनमें अपेक्षित-अनपेक्षित प्रक्षेप आदि से हानि-वृद्धि हुई, जिसके कारण हम इस साहित्य को सर्वथा प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ तो नहीं कह सकते, फिर भी इसमें जिन ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक तथ्यों

का गुम्फन हुआ है, उसको नजरअन्दाज भी नहीं किया जा सकता। कहा जा सकता है कि इसमें-वर्णित तथ्य भारत के तत्कालीन इतिहास की अपूर्णता को किसी-न-किसी रूप में पूर्णता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रस्तुत लेख में निशीथ एवं उसके व्याख्या साहित्य के आधार पर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से ईसा की छठी शताब्दी कालीन भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का संक्षिप्त रेखांकन करने का विनम्र प्रयत्न है।

किसी भी देश की आर्थिक स्थिति का आकलन करने के लिए मुख्यतः चार पहलुओं की चर्चा की जाती है-उत्पादन, विभाजन, विनिमय और उपयोग। विभाजन का आधार है-अर्जित धन का अपने पेशे से संबंधित व्यक्तियों में बंटवारा। प्राचीन अर्थव्यवस्था में विभाजन की उन व्यवस्थाओं की प्रासंगिकता नहीं थी जैसी उत्तरवर्ती सामाजिक अवस्थाओं में प्राप्त होती है, अतः तत्संबन्धी चर्चा की अपेक्षा नहीं, उपभोग विषयक चर्चा का मुख्य प्रयोजन है- तत्कालीन जीवन स्तर का निर्णय। वह वस्तुतः उत्पादन से ही प्रकट हो जाता है, अतः मुख्यतः उत्पादन और विनिमय-दो ही घटक तत्त्वों की चर्चा करना यहां अपेक्षित है।

## उत्पादन

भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्धन आदि के माध्यम से भौतिक पदार्थों के रूप में एवं परिणाम में परिवर्तन कर उनकी उपयोगिता बढ़ाना उत्पादन कहलाता है।

**खेती-**भारतवर्ष में उत्पादन का मुख्य आधार है-भूमि। भूमि से होने वाले उत्पादन के मुख्यतः दो भेद हैं-कृषि एवं खनिज। निशीथसूत्र में वट, पीपल, गूलर, अशोक, चम्पक, आम्र आदि के वनों तथा विविध फलों के सुखाने के स्थान (वर्च) का उल्लेख हुआ है।<sup>1</sup> उसके भाष्य एवं चूर्ण में सेतु और केतु शब्द आता है, जिससे यह स्पष्ट है कि उस समय के लोग खेती तथा उसकी विधाओं से परिचित थे। केतु वे खेत होते थे जिनकी सिंचाई वर्षा के जल से होती जबकि सेतु की सिंचाई के लिए रहट और नालिका का प्रयोग होता था।<sup>2</sup> हलों में बैल जोतकर खेती की जाती। हल के लिए कुलिय और नंगल शब्द का प्रयोग मिलता है।<sup>3</sup> लोग दिन-रात खेतों की रखवाली करते। रात्रि में सूअर आदि जंगली जानवरों से खेती की रक्षा हेतु सींग बजाया जाता।<sup>4</sup>

निशीथभाष्य में भी अपने समकालीन अन्य ग्रन्थों के समान सत्रह प्रकार के धान्य का उल्लेख मिलता है-चावल, जौ, मसूर, गेहूं, मूंग, उड़द, चना, कांगनी, कोद्रव, सरसों, हिरिमंथ (गोल चना) आदि इनमें प्रमुख थे।<sup>5</sup> धान्य कूटने के लिए गंजशालाएँ होती थीं।<sup>6</sup> अनाज को सुरक्षित रखने के लिए मिट्टी या बांस के पल्ल (कोठे) बनाए जाते। कई लोग उसे मंच (बांस के खंभों पर बने कोष्ठ) तथा माले (घर के ऊपरी हिस्से में बने कोष्ठ) में सुरक्षित रखते। सुरक्षा की दृष्टि से पल्ल आदि के द्वार पर मिट्टी पोत दी जाती तथा उस पर रेखांकन कर दिया जाता या मोहर

लगा दी जाती।<sup>7</sup> लोग मूली, धनिया, बथुआ, जीरा, दवना, मरुआ आदि के पत्तों तथा बड़, पीपल, पाकड़ आदि के फलों को सुखाकर भी प्रयोग करने थे। उनको सुखाने का स्थान वर्च कहलाता था। निशीथ सूत्र में आम और इक्षु को खाने के अनेक प्रकारों का वर्णन<sup>8</sup> भी उनकी पर्याप्त मात्रा में उपज का सूचक है।

भाष्यकाल (ईसा की चौथी पांचवी शताब्दी) में कच्चे फलों को पकाने की भी अनेक विधियां प्रचलित थी-आम आदि को घास-फूस या भूसे के अन्दर रखकर, उसकी गर्मी से पकाया जाता। ककड़ी खीरा, बिजौरा आदि के कच्चे फलों को पक्के फलों के साथ रखकर उनकी गन्ध से पकाया जाता। तिन्दुक आदि फलों को धूएँ के द्वारा पकाया जाता।<sup>9</sup> कोट्ट में भी फल पकाए जाते-ऐसा उल्लेख मिलता है।<sup>10</sup>

सूत की फसलों में कपास की खेती मुख्य थी। निशीथ-चूर्णि में ऊर्णा नामक कपास का उल्लेख मिलता है, जिसे लाट देश में गड्डर कहा जाता।<sup>11</sup> वस्त्रों के पांच प्रकारों-जांगिक, भांगिक, पोत्तय आदि में पोत्तय वस्त्र कपास से बनता था।<sup>12</sup> कपास की विविध अवस्थाओं-सेडुग, रुंचंत (रुई), पेलू (पूनी), तथा पिंजिय (पीजा हुआ) का भी उल्लेख मिलता है। लोग दूसरों को वश में करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कपास से वशीकरण सूत्र भी बनाते थे।<sup>13</sup>

## पशु-पालन

प्राचीन भारत में पशुधन को भी पर्याप्त महत्व प्राप्त था। निशीथसूत्र में विगय आदि से प्रसंग में दूध, दही, घी, मत्स्यण्डिका<sup>14</sup> आदि का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय भारतीय लोग दूध देने वाले पशुओं-गाय, बकरी, भैंस आदि को पालते थे। उनको दुहने के लिए दोहन-वाटक होते। गांवों में बड़े-बड़े घोस (गोकुल) होते थे।<sup>15</sup> भेड़ और ऊँट की ऊन से कम्बल, रजोहरण आदि बनाने का उल्लेख उनके पालन की सूचना देता है। मूर्धाभिषिक्त राजा घोड़े, हाथी, महिष, वृषभ, सिंह, व्याघ्र, बकरी, मृग, श्वान, शूकर, मेंढा, बन्दर, कुक्कुट, कबूतर, बतख, लावक, चिरल्ल, हंस, मोर और तोते को पालते, उनको प्रशिक्षित करते, उन्हें आभूषण आदि पहनाते, सुसज्जित करवाते तथा विविध कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की नियुक्ति करते, जैसे-अश्वपोषक, अश्वदमक, अश्वमिढ, अश्वारोही आदि।<sup>16</sup>

## खान एवं खनिज उद्योग

जैन आगमों में स्थान-स्थान पर ग्राम, नगर, खेट, कर्बट आदि के साथ आकर शब्द का उल्लेख हुआ है। आकर उस वसति का सूचक है जो पत्थर धातु आदि की खान के समीप हो।<sup>17</sup> अनेक महोत्सवों के साथ आकर महोत्सव का उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन भारतवर्ष में खानों एवं खनिजों की भरमार थी।

निशीथसूत्र में पांचवे उद्देशक में अनेक खानों-लोहा, तांबा, रांगा, शीशा, चांदी, सोना और वज्ररत्न की खानों का उल्लेख मिलता है।<sup>18</sup> लोग अपनी-अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार लोहे, तांबे, रांगे, सोने, चांदी आदि के पात्र रखते, कुछ लोग मुक्ता आदि से जड़ित स्वर्णपात्र और मणिमय पात्र भी रखते थे।<sup>19</sup> प्राचीन काल में लोग धातु के पानी से सींचकर तांबे से सोना बनाने की विद्या भी जानते थे।<sup>20</sup> सुनार लोग सोने, चांदी, रत्न आदि से विविध प्रकार के आभूषण बनाते। निशीथसूत्र में हार, अर्धहार, एकावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि, कटिसूत्र, भुजबन्द, केयूर कुंडल, मुकुट आदि चौदह प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है।<sup>21</sup>

स्वर्णकार के समान लोहकार का व्यापार भी उन्नति पर था। उस समय बड़ी-बड़ी कर्मकारशालाएँ होती थीं। जहाँ वे कवल्ली, कन्दुक (तवा), कड़विय (चम्मच) जैसे घरेलू उपकरणों का निर्माण करते धुर, पिप्पलक (कैंची), सूई, नखच्छेदनक (नेलकटर), कर्णशोधनक, आरा आदि छोटे-छोटे शस्त्रों का निर्माण भी करते।<sup>22</sup> निशीथचूर्णि में पूरे शस्त्रकोश का वर्णन मिलता है, जिसमें अंगुलिशस्त्र, शिरोवेधशस्त्र, कल्पनशस्त्र, संडासक आदि नौ या इससे अधिक शस्त्र रखे जाते।<sup>23</sup> विविध धातुओं के समान प्राचीन काल में हाथीदांत, शंख, शैल, वस्त्र एवं चर्म के पात्र भी बनाए जाते थे।<sup>24</sup> पात्र विषयक वर्णन का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पात्र उद्योग एक विविध आयामी उद्योग था जिसमें एक कर्षापण से लेकर लाख कार्षापण मूल्य पर्यन्त विविध प्रकार के पात्र बनाए जाते थे।

### कुम्भ-उद्योग

प्राचीन साहित्य में बड़ी-बड़ी कुम्भकारशालाओं का उल्लेख मिलता है। वहाँ मिट्टी के बर्तन, मूर्तियाँ आदि बनाए जाते। उन बर्तनों को पकाने के पचनशाला, पके हुए बर्तनों को रखने के लिए भांडशाला, बर्तन बनाने के लिए कर्मशाला, ईंधन रखने के लिए ईंधनशाला तथा विक्रेय बर्तनों को रखने के लिए पण्यशाला होती थी।<sup>25</sup>

### वस्त्र उद्योग

कृषि के समान वस्त्र उद्योग भी उस समय का महत्वपूर्ण उद्योग था। वस्त्र निर्माताओं की बड़ी-बड़ी तन्तुवायशालाएँ होती थीं। प्राचीन साहित्य में सामान्यतः वस्त्रों के पांच प्रकारों-जांगिक, भांगिक आदि का उल्लेख मिलता है, निशीथभाष्य में भिन्न प्रकार से वस्त्रों के तीन भेद किये गए हो-

1. एकेन्द्रिय निष्पन्न-कपास आदि से बने हुए वस्त्र।
2. विकलेन्द्रिय निष्पन्न-कौशेय आदि।
3. पंचेन्द्रिय निष्पन्न-और्णिक वस्त्र, कम्बल आदि।<sup>26</sup>

निशीथ सूत्र एवं उसके व्याख्या साहित्य को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि नूतन, किनारीयुक्त बहुमूल्य एवं चटकरंग वाले वस्त्र पहनना उस समय विशिष्ट गौरव एवं प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता था। निशीथसूत्र में पैंतीस प्रकार के बहुमूल्य एवं वैविध्यपूर्ण वस्त्रों का उल्लेख हुआ है।<sup>27</sup> जिनके बारे में व्याख्या ग्रन्थों एवं तत्कालीन अन्य साहित्य-वैदिक, बौद्ध आदि में पढ़कर एक सुखद आश्चर्य एवं गौरव की अनुभूति होती है कि प्राचीनकाल में ज्ञान एवं कला का कितना विकास हो गया था-

1. तोसलिल देश में बकरों के खुर में लगी हुई शैवाल से 'आय' नामक वस्त्र बनाए जाते।
2. नीलवर्णी कपास से 'काय' वस्त्र बनते।
3. जो वस्त्र पहनते समय कड़कड़ शब्द करते, वे गज्जफल वस्त्र कहलाते।
4. सोने को पिघला कर उससे रंगे हुए वस्त्र कनक वस्त्र कहलाते।

5-6. कनक कान्त और कनकपट्ट वस्त्र सुनहरी किनारियों वाले होते थे। जो वस्त्र सुनहरे धागे से बेलबूटों वाले होते, वे कनकस्पृष्ट और कनकखचित वस्त्र कहलाते थे।<sup>28</sup>

इसी प्रकार चर्म से बने वस्त्रों से भी-कृष्णमृगाजिन, नीलमृगाजिन, गौरमृगाजिन, उद्वस्त्र आदि अनेक प्रकार प्राचीन काल में प्रचलित थे। पट्ट, मलय, अंशुक, चीनांशुक कृमिराग आदि विविध प्रकार से बनने वाले रेशमी वस्त्र हैं, जो प्राचीनकाल में भिन्न-भिन्न देशों में बनाए जाते थे।

### चमड़ा-उद्योग

निशीथचूर्णि में स्थान-स्थान पर पदकर, पंदकार, चर्मकार आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।<sup>29</sup> ये लोग प्रायः गांवों से बाहर रहते थे। इनका धंधा प्रशस्त नहीं माना जाता था। ये दृति (मशक), चर्मष्टक, जूते, चमड़े की मालाएँ, चर्मवस्त्र, कृत्ति (बिछाने का चर्मखण्ड) तथा चर्मपात्र बनाते। उस समय जूतों-क्रमणिका या तलिका के अनेक प्रकार प्रचलित थे, जैसे-एक तले के जूते, दो तले के जूते, आधे पैर के जूते (अर्धखल्लक), पूरे पैर के जूते (समतखल्लक), अंगुलियों एवं पैरों को ऊपर से ढकने वाले जूते (वग्गुरी), खपुसा, कोशक आदि। निशीथचूर्णि में इनका संक्षिप्त एवं सारगर्भित विवरण उपलब्ध होता है।<sup>30</sup> मुनि भी आपवादिक परिस्थितियों में कुछ चमड़े के उपकरणों का उपयोग करते थे, जैसे-गोफण, वर्ध्न, कृत्ति, सिक्कक (छींका), कापोतिका आदि।<sup>31</sup>

### माला निर्माण उद्योग

प्राचीन काल में माला निर्माण का उद्योग भी प्रचुर मात्रा में प्रचलित था। लोग उत्सवों में अपने घरों आदि सजाने, बन्दनवार लगाने तथा स्वयं की विभूषा के लिए भी विविध प्रकार की



मालाओं का प्रयोग करते थे। फूल, फल, बीज, पत्र, हरित आदि के अलावा मूँज, बेंत, मदनपुष्प, भेंड, मोरपंख, सींग, हाथीदांत, कौड़ी, रुद्राक्ष आदि अनेक वस्तुएँ से मालाएँ बनाई जाती थी।<sup>32</sup> बन्दरों की हड्डियों की भी मालाएँ बनाई जाती थीं।<sup>33</sup>

### काष्ठकर्म आदि

बढ़ई लोग काष्ठ की विभिन्न जातियों एवं उनकी विशेषताओं से परिचित होते थे। वे काष्ठ के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की मालाएँ, मूर्तियाँ, पात्र, पीढ़े, पलंग, खाट आदि बनाते थे। मकान एवं मकान के कई अवयव भी लकड़ी से बनाए जाते। डोय, दर्वी, आयमणी (लुटिया), उल्लंकअ आदि उस समय के प्रसिद्ध काष्ठपात्र थे।<sup>34</sup>

### अन्य पेशेवर एवं श्रमजीवी

कृषक, कुम्भकार, जुलाहे, चर्मकार आदि के अतिरिक्त अन्य भी कई पेशे समाज में प्रचलित थे। जैसे-नट, नर्तक, जल्ल (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, लंख, मंख आदि।<sup>35</sup> इसी प्रकार राजभृत्यों में छत्रग्राही, सिंहासनग्राही, पादुकाग्राही, यष्टिग्राही आदि अनेक पेशेवर लोगों का उल्लेख मिलता है।<sup>36</sup> प्राचीन जैन वाङ्मय में अनेक प्रसंगों में विभिन्न पेशेवर लोगों का उल्लेख हुआ है, जैसे नाई, धोबी, व्याध, खटीक, हरिकेश, वरुड़ आदि।<sup>37</sup>

### विनिमय

निशीथसूत्र में चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, राजगृह आदि आठ राजधानियों का उल्लेख मिलता है।<sup>38</sup> तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में ये उस समय के विशिष्ट उद्योगकेन्द्र एवं समृद्ध व्यापार केन्द्र थे। कुछ स्थानों पर जलमार्ग से व्यापार होता तो कुछ स्थानों पर स्थलमार्ग का प्रयोग कर व्यापारी अपने देश से विभिन्न वस्तुएँ बेचने आते। भृगुकच्छ (भडौँच), ताम्रलिप्त आदि स्थानों में जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता, वे द्रोणमुख कहलाते।

वणिक् समाज मूलधन की रक्षा करते हुए धनोपार्जन हेतु किसी अच्छे स्थान में जाते।<sup>39</sup> वहां अपनी दुकान लगाकर अपने भाग्य को व्यापार कौशल की कसौटी पर कसते। कुछ लोग बिना दुकान के घूम फिर कर व्यापार करते। प्राचीन काल में इनके लिए वणि और विपणि शब्द प्रचलित थे।<sup>40</sup> व्यापारियों का एक वर्ग था कक्खपुडिय- वे अपनी गठरी बगल में दबाकर विनिमय के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते।<sup>41</sup> निशीथचूर्णि में बताया गया है कि चक्रिकाशाला में तेल, गोलियशाला में गुड़, गोणियशाला में गायें, दोसियशाला में वस्त्र तथा गन्धियशाला में सुगंधित पदार्थों का विक्रय होता था।<sup>42</sup> पोइयशाला अर्थात् हलवाई की दुकानों

में विभिन्न मिष्ठानों का क्रय-विक्रय होता था।<sup>43</sup> लोग जायफल, कक्कोल, कपूर, लौंग, सुंपारी डालकर पान खाते थे।<sup>44</sup> पनवाड़ी लोग पान का विक्रय करत थे।<sup>45</sup>

### आयात निर्यात

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की छठी शताब्दी- लगभग एक सहस्राब्दी के इस ऐतिहासिक कालखण्ड में भारतवर्ष में किन-किन वस्तुओं का आयात-निर्यात किया जाता था, किन-किन वस्तुओं का केवल स्वदेशी व्यापार होता और वे कौन-सी चीजें हैं, जिनका अन्तर्देशीय व्यापार होता-इसकी व्यवस्थित सूचना निशीथ व उसके व्याख्या साहित्य में उपलब्ध नहीं होती, फिर भी जो कुछ वहां विकीर्ण रूप में उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस समय स्वदेशी विनिमय के समान अन्तर्देशिक विनिमय भी होता था।

वस्त्र उद्योग की दृष्टि से मथुरा, विदिशा लाट, तोसलि, काक, मलय, चीन आदि प्रमुख क्षेत्र थे। यहां से विविध प्रकार के वस्त्रों का निर्यात होता था। लोग मलय, चीन आदि से वस्त्रों का आयात करते थे।<sup>46</sup> इसी प्रकार कम्बोज एवं कालिय-द्वीप के घोड़े, महाहिमवन्त का गोशीर्षचन्दन, नेपाल के बहुमूल्य रोएंदार कम्बल, पारसउल (ईरान) के चन्दन, अगुरु, चांदी आदि प्रसिद्ध थे। वहां से आने वाले सार्थ एवं व्यापारियों से धनाढ्य लोग इन्हें खरीदते थे।

ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी में सौपारक बन्दरगाह एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। वहां लगभग पांच सौ व्यापारी रहते थे। उनसे कर भी नहीं लिया जाता था।<sup>47</sup> निशीथ सूत्र के नवम उद्देशक में पारस, बर्बर, यवन, तमिल, अरब, पुलिन्द आदि देशों की दासियों का उल्लेख मिलता है।<sup>48</sup> इससे स्पष्ट है कि दास-दासियों का क्रय-विक्रय केवल भारतवर्ष में ही नहीं था, अन्य देशों से भी उनका आयात होता था।

### यातायात के साधन

प्राचीन काल में व्यापार जल एवं स्थल दोनों मार्गों से होता था। स्थलमार्ग के व्यापारी भंडी (गाड़ी), बहिलग, काय और शीर्ष-इनका प्रयोग करते थे।<sup>49</sup> निशीथभाष्य में पांच प्रकार के सार्थ का उल्लेख मिलता है।

भंडी, बहिलग भरवह ओदरिय कप्पडिय सत्थो।<sup>50</sup>

1. गाड़ी पर सामग्री लेकर चलने वाले
2. ऊँट व बैल पर बोझा ढोने वाले
3. पोटलियों में स्वयं भार वहन करने वाले
4. अपना संबल लेकर चलने वाले
5. कार्पटिक-भिक्षाचर।

निशीथ-चूर्णि में बताया गया है कि जिस गाड़ी में काष्ठ मजबूत हो तथा जिसमें वज्रकील और लोहपट्ट का प्रयोग हुआ हो, वह भार वहन में समर्थ मानी जाती थी।<sup>51</sup>

कुछ लोग व्यापार के लिए समर्थ सार्थपति के नेतृत्व में बड़े सार्थ के साथ यात्रा करते। सार्थपति अपने समूचे सार्थ के लिए पूरी यात्रा में पर्याप्त हो सके, इतनी खाद्य सामग्री-आटा, चावल, तेल, घी, आदि जलपात्र, औषध, ईंधन, आवरण, प्रहरण आदि सभी वस्तुएँ अपने साथ लेकर चलते थे।<sup>52</sup> अन्य अपेक्षा से सार्थ के कालोत्थायी, स्थानस्थायी, कालनिवेशी, कालभोजी आदि प्रकार भी आए हैं।<sup>53</sup> ये लोग अपने साथ अनुरंगा (गाड़ी), पालकी, भैंसे, हाथी, बैल आदि भी रखते थे, जिससे अपेक्षा होने पर रोगी या असमर्थ को उन पर चढ़ा सके।<sup>54</sup> कई बार कावड़ से भी वृद्ध आदि को रास्ता पार करवाना पड़ता।<sup>55</sup> जो लोग अकेले यात्रा करते उन्हें मार्ग में वर्षा, जंगली जानवर, चोर, लूटेरे आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता था।

जल पट्टणों एवं द्रोणमुखों में जलयानों के द्वारा भी व्यापार होता था। नदियों के मार्ग से जाने वाले व्यापारी प्रायः अगड्डिया (नेपाल में चलने वाली एकठा नाव), अंतरडकगोलिया (डोंगी) और कौचवीरग (जलयान) का प्रयोग करते।<sup>56</sup> निशीथसूत्र के अठारहवें उद्देशक में चार प्रकार की नावों का उल्लेख उपलब्ध होता है-ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी, योजनवेला गामिनी और अर्धयोजनवेला गामिनी।<sup>57</sup> निशीथ भाष्यकार पूज्य संघदास गणि ने अन्य चार प्रकार की नावों का उल्लेख किया है-अनुलोमगामिनी, प्रतिलोमगामिनी, तिर्यक् संतारणी तथा समुद्रगामिनी।<sup>58</sup>

## मूल्य और मुद्रा

प्राचीनकाल में वस्तु विनिमय होता था। भाष्य युग तक आते-आते मुद्रा विनिमय भी होने लगा। निशीथ भाष्य में वैद्य को दी जाने वाली फीस के परिप्रेक्ष्य में मुद्रा की चर्चा आई है। इसी प्रकार वस्त्र एवं पात्र के विषय में भी मूल्य एवं मुद्रा की चर्चा आई है। सामयिक परिभाषा में बहुमूल्य वस्त्र एवं बहुमूल्य पात्र को भावकृत्स्न कहा गया है।

दुविधं च भावकसिणं, वण्णजुअं चेतो मोल्लजुअं  
वण्णजुअं पंचविधं, तिविधं पुण होति मोल्लजुअं।<sup>59</sup>

अठारह रुपये मूल्य वाला वस्त्र जघन्य भावकृत्स्न तथा लाख रुपये मूल्य वाला वस्त्र उत्कृष्ट भावकृत्स्न कहलाता था।<sup>60</sup> इसी प्रकार पात्र का जघन्य मूल्य एक कार्षापण तथा उत्कृष्ट मूल्य लाख कार्षापण बताया गया है।<sup>61</sup> भिन्न-भिन्न देशों में मुद्राओं के भिन्न-भिन्न प्रकार होते थे। सौराष्ट्र के दक्षिणवर्ती द्वीप में प्रचलित रुपये को 'साभरक' कहा जाता। उत्तरापथ का एक रुपया दो साभरक तथा पाटलिपुत्र का एक रुपया चार साभरक के बराबर मूल्य वाला होता था।

इसी प्रकार कांचीपुरम् का एक नेलक दक्षिणापथ के दो रुपयों के बराबर-तथा कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) का एक रुपया दो नेलक मूल्य वाला होता था।<sup>62</sup> ईसा की चौथी से छठी शताब्दी में भारतवर्ष में कौड़ी, नाणक (तांबे का सिक्का), चम्मलात (भिल्लमाल का चांदी का सिक्का), दीनार एवं केवरात आदि मुद्राएँ प्रचलित थीं।<sup>63</sup> मयूरांक नामक दीनार का उल्लेख मिलता है, जिस पर मयूरांक नामक राजा का चित्र अंकित होता था।<sup>64</sup>

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक के ऐतिहासिक कालखण्ड में भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। चावल, गन्ना, कपास आदि की खेती बहुतायत से होती थी। शिल्पकला भी उन्नति पर थी। कीमती वस्त्र, पात्र, विलासिता एवं प्रसाधन की सामग्री आदि अस्तित्व में आ चुके थे।

### सन्दर्भ-सूची-

1. निशीथसूत्र, 3/76-79
2. बृहत्. भाष्य, 826
3. निशीथचूर्णि पीठिका, पृ. 60
4. निशीथचूर्णि पीठिका, पृ. 12
5. निशीथभाष्य, गाथा. 1029, 30
6. निशीथसूत्र, 9/7
7. वही, 17/126, 127
8. वही, 15/7, 16/7
9. (क) निशीथ-भाष्य, गाथा 4898  
(ख) बृहत्कल्प भाष्य, गाथा 841
10. निशीथचूर्णि-III, पृ. 214
11. निशीथचूर्णि, III, पृ. 223
12. निशीथचूर्णि, III, पृ. 223
13. निशीथसूत्र, 3/70
14. निशीथसूत्र, 8/17
15. निशीथचूर्णि, III, पृ. 347
16. निशीथसूत्र, 9/23-26
17. निशीथसूत्र, 5/34
18. निशीथसूत्र, 5/35
19. निशीथसूत्र, 16/1
20. निशीथभाष्य गाथा 4313 व चूर्णि
21. निशीथसूत्र, 7/7
22. (क) निशीथसूत्र, 1/15-17,  
(ख) निशीथचूर्णि, III, पृ. 214
23. निशीथसूत्र, III, पृ. 214
24. निशीथसूत्र, 11/1
25. निशीथ भाष्य, गाथा-5389-5391
26. वही, गाथा, 5003 व चूर्णि
27. निशीथसूत्र, 7/10
28. (क) निशीथचूर्णि, II, पृ. 400  
(ख) तुलना हेतु द्रष्टव्य-जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 206-208
29. निशीथचूर्णि, II, पृ. 271
30. निशीथचूर्णि, पृ. 87 व उसके पादटिप्पण
31. निशीथभाष्य, गाथा 3431-3435 (सचूर्णि)
32. निशीथसूत्र, 7/1
33. निशीथचूर्णि, II, पृ. 396
34. निशीथभाष्य, गाथा 4113 (सचूर्णि)

35. निशीथसूत्र, 9/22
36. निशीथसूत्र, 9/27
37. निशीथभाष्य, गाथा-3707, 3708
38. निशीथसूत्र, 9/19
39. निशीथभाष्य, गाथा 3532 (सचूर्णि)
40. निशीथभाष्य, गाथा 5750 (सचूर्णि)
41. निशीथभाष्य, गाथा 3226 (सचूर्णि)
42. निशीथसूत्र, 8/5-9
43. निशीथचूर्णि, III, पृ. 106
44. निशीथचूर्णि, III, पृ. 319
45. निशीथभाष्य, 6413
46. निशीथचूर्णि, II, पृ. 399-400
47. निशीथभाष्य, गाथा 5156
48. निशीथसूत्र, 9/29
49. निशीथभाष्य, गाथा 1486
50. निशीथभाष्य, गाथा 5658
51. निशीथचूर्णि, IV, पृ. 348
52. निशीथभाष्य, गाथा 5662, 5664
53. निशीथभाष्य, गाथा 5675
54. निशीथभाष्य, गाथा 5663 (सचूर्णि)
55. निशीथभाष्य, गाथा 5652 (सचूर्णि)
56. निशीथभाष्य, गाथा 5323
57. निशीथसूत्र, 18/12, 13
58. निशीथभाष्य, गाथा 183
59. निशीथभाष्य, गाथा 953
60. निशीथभाष्य, गाथा 957
61. निशीथचूर्णि, III, पृ. 171
62. निशीथभाष्य, गाथा-958-959
63. निशीथभाष्य, गाथा 3070
64. निशीथचूर्णि, III, पृ. 388.

सम्पर्क सूत्र-

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

# Ācārāṅga-Bhāṣyam

Ācārya Mahāprajña

## CHAPTER -V THE ESSENCE OF THE WORLD

### SECTION-2

5.19 *āvaṃtī keāvāṃtī loyaṃsi aṇāraṃbhajīvī, etesu ceva maṇāraṃbhajīvī.*

**Whosoever lives a life of non-violence does so by not being attached to those objects of allurement.**

#### Bhāṣyam Sūtra 19

Here the word 'non-violence' is intended to mean self-restraint or absence of laxity. The person who does not indulge in the senses, sensual objects and passions leads a life of non-violence. The non-violent persons in the world are so called because of their non-indulgence in respect of the senses, sensual objects and passions.<sup>1</sup>

5.20 *etthovarae taṃ jhosamāṇe 'ayaṃ saṃdhī' ti adakkhu.*

**Thus desisting from violence and practising<sup>2</sup> non-violence one could identify the juncture.**

#### Bhāṣyam Sūtra 20

Here, in the life of non-violence the person who desists from violence, or non-restraint or laxity, could see or identify the juncture while practising non-violence. Here the word "juncture" has two meanings that are relevant in the present context:

(1) The karmic aperture conducive to the awakening of the supersensuous consciousness; (2) an organ of the body which is the plexus, a connecting link with vigilant intellection.

In ancient literature, the words juncture, aperture, hole, wheel, lotus, plexus etc. are used synonymously. The juncture stands for *suṣumnā*<sup>3</sup> (the central nervous cord) which is between *īdā* and *piṅglā*; also it stands for aperture.<sup>4</sup> Juncture and aperture are both used for *suṣumnā*.<sup>5</sup>

The synonymity of aperture, hole and lotus is found described in the *Śiva-saṃhitā* (5.153):<sup>6</sup> 'Inside the thousand petalled lotus, there is situated the aperture of *suṣumnā* together with its root. The aperture is called the *brahma-aperture* which is also the same as the lotus at the bottom.'

The light of supersensuous knowledge spreads out of the karmic aperture. In the *Nandī Cūrṇī*, it is said: the purity of the karmic particles in the soul-points is found in the body to act in a particular direction. This is the reason why the clairvoyance due to the purity is described as situated in the body. In the case of the purity of all the soul-points the clairvoyance that functions in a particular direction is described as situated in the body.<sup>7</sup>

The doctrine that confirms such view is also available at other places.<sup>8</sup>

In connection with clairvoyance, the word *karāṇa* is explained as an organ of the body or a part of the body through which the clairvoyant knows the objects.<sup>9</sup> The organs are of various shapes.<sup>10</sup>

In the *Suśruta Saṃhitā*,<sup>11</sup> two hundred ten junctures and one hundred seven sensitive points are mentioned. The juncture is the meeting point of bone, muscle and sinews.<sup>12</sup> The junctures are of eight kinds.<sup>13</sup> At the sensitive centres there is abundance of vitality.<sup>14</sup> In the opinion of Mallisena, the sensitive centres are the parts of the body, dominated by many soul-points.<sup>15</sup> The plexus of consciousness are situated within sensitive centres.<sup>16</sup> In the Haṭhayoga and similar scientific literature, the meeting points of vitality and consciousness are approved of as the bases of meditation.<sup>17</sup>

5.21 *je imassa viggahassa ayam khañetti mannesī.*

**Vigilant indeed is the person who identifies the present moment of existence of this body.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 21**

This is the Sūtra of meditation. The person who is in search of the present moment in this body and is cognizant of the pleasurable and painful feelings that arise every moment is capable of self-restraint and vigilance.<sup>18</sup> The word ‘moment’ also stands for the inside of the body.<sup>19</sup> The person who perceives the ‘inside’, that is, the internal centre of consciousness is capable of practising self-restraint and vigilance.<sup>20</sup>

5.22 *esa magge āriehiṃ pavedite.*

**This path of vigilance is expounded by the Jinas.<sup>21</sup>**

5.23 *utthie ño pamāyae.*

**A person who is awake or disciplined should not fall back into non-vigilance.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 23**

The person who is awake to the practice of vigilance should not submit to laxity. A person even though awake can fall back to the state of the unawakened in the absence of necessary enthusiasm and exertion. This instruction, therefore, is very useful. So long as there is the elimination-cum-suppression of the deluding karma, the state of vigilance cannot be steadfast. There is a constant chain of rising and vanishing of the state of vigilance. When a person diving under the surface of the river pushes aside the moss by his hands, he gets a glimpse of the sky, but when his hands rest, the moss gathers up and covers his glimpse of the sky. In this process at the state of vigilance, the elimination-cum-suppression of the deluding karma becomes fruitful, and one may get a glimpse of the self. At the state of non-vigilance the elimination-cum-suppression becomes fruitless, and the glimpse of the self becomes blurred.

There is concomitance between non-vigilance and fear. “There is fear for the non-vigilant from all quarters,” said the Lord.<sup>22</sup> Therefore one



should not indulge in laxity. When there is non-vigilance of the nature of non-enthusiasm in the practice of the discipline, there is predominance of inauspicious activities and consequently there is premature realization and transference of karma. As a result, there is suppression of auspicious karma and transference of the auspicious into the inauspicious. Therefore it is a truism that wherever there is non-vigilance, there is fear. The reverse takes place in the state of vigilance. There is elimination of inauspicious karma due to premature realization of the auspicious, and also transference of the inauspicious into the auspicious.

*5.24 jāñittu dukkhaṃ patteyaṃ sāyaṃ*

**One should not indulge in negligence, knowing pleasure and pain of the individual himself.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 24**

Pleasure and pain are confined to the individual alone. none else can take upon himself the pleasure and pain of others. Knowing this, one should desist from non-vigilance.<sup>23</sup>

*5.25 puḍho chaṃdā iha māṇavā, puḍho dukkhaṃ paveditaṃ.*

**People have diverse motives, and sufferings are also said to be diverse.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 25**

That the pleasure and pain are confined to each particular individual is due to the fact that the psychic mood which is the substantial cause of pleasure and pain belongs exclusively to the individual. This truth has been expounded here. The people in this world have different interests and multiple moods. This is the reason why pleasure and pain are differently wished for by different persons. Some people regard violent indulgence as pleasure and some regard it as pain. Similarly some people consider non-violence as pain, while others regard it as pleasure. In this way, the thought about pleasure and pain is not absolute. Therefore, the awakened person should lead a life of non-violence, knowing that pleasure and pain are confined to the individual himself.

5.26 *se avihimsamāṇe, aṇayamāṇe, puṭho phāse vippanollae.*

**The awakened person should not commit violence to anybody; he should not deny the existence of subtle living things. Whatever suffering he meets he should tolerate equanimously.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 26

A person engaged in injurious activities indulges in violence. But the person who has vowed to live non-violent life is an awakened individual who does not destroy living beings. There are two classes of living beings: subtle and gross. The avoidance of violence to gross beings is not that difficult as avoidance to subtle beings. The vow to lead a non-violent life is really very difficult, because sometimes doubt may arise about the existence of subtle animate things. The Sūtra, therefore, in order to meet such doubt says that the non-violent person should not deny the existence of subtle animate things. In such situation one may be confronted with many hardships while leading a non-violent life, which he should bear patiently, not being overpowered by them.

5.27 *esa samiyā-pariyāe viyāhite.*

**Such person is designated as the practitioner of the right mode of life.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 27

Such non-violent and tolerant person has been designated as a person of right inclination, that is, a person practising equanimity par excellence.<sup>24</sup>

5.28 *je asattā pāvehiṃ kammehiṃ, udāhu te āyaṃkā phusaṃti. iti udāhu vīre “te phāse puṭho hiyāsae.”*

**Even the ascetics, not addicted to sinful activities, are overtaken by fatal diseases. Such people are addressed by the Lord to endure those ailments with patience.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 28

Once Lord Mahāvīra was approached by some monks who asked him: ‘O Lord! there are people who are attacked by ailments, even though

they are detached, practise penance, self-restraint and are observer of celibacy.’

The Lord answered : ‘O noble ones! you should know that the ailments and the self-restraint are governed by different causes.’

‘We want to know about those causes, O Lord!’

The Lord said: ‘the tranquilization of the conduct-deluding karma is the cause of self-restraint, whereas the rise of the sensation karma is the cause of ailments; the latter is possible for the omniscient too; one should therefore properly tolerate the sufferings caused by those ailments.’

5.29 *se puvvaṃ peyaṃ pacchā peyaṃ bheura-dhammaṃ, vidhamsānadhammaṃ, adhuvaṃ, aṇitīyaṃ, asāsayaṃ cayāvacaīyaṃ, vipariṇāmadhammaṃ, pāsaha eyaṃ rūvaṃ.*

**Look! this body was in the past and will also be in the future remain fragile, subject to decay, unstable, transient, non-eternal, waxing and waning, changing in nature.**

### Bhāṣyaṃ Sūtra 29

This Sūtra gives the basic principle of tolerance. According to this principle, the pain caused by ailments is to be tolerated. Look at this material body.<sup>25</sup> It was subject to decomposition in the past<sup>26</sup> and will remain so in the future. The implication is that the decomposition takes place automatically. This body is perishable like a dilapidated cart. It is unstable, impermanent, non-eternal, subject to growth and decay, and subject to change. This body is nourished by rich diet and decays in the absence of such food. The body grows upto the fortieth year and starts decaying thereafter. This is the reason why it is described as subject to growth and decay. The body is subject to change because it passes through various transformation through the states of foetus, childhood, youth, etc.

5.30 *saṃdhiṃ samuppehamāṇassa egāyataṇa-rayassa iha vippamukkassa, ṇatthi magge virayassa tti bemi.*

**For the person who perceives the juncture, who is devoted to the path of detachment, is free from worldly possessiveness, desists from violence, there is no exclusive way to liberation — thus do I say.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 30**

For an aspirant who, perceiving the juncture of the body, is devoted to a single way, that is, the super-corporeal consciousness and is devoid of the sense of 'mine'-ness with reference to the body, there is no need of any particular path.

The implication is that the aspirant who has experienced pure consciousness on account of the envision of the juncture and consequently whose renunciation has become natural, has no need of any kind of discipline or any path of meditation. What is the necessity of any path for a person who has reached the goal, as it has been said: the seer has no designation (2.73). The path of spiritual discipline is not only one, there being many ways of attaining freedom from attachment. All these ways are genuine paths.

*5.31 āvaṃtī keāvaṃtī logaṃsi pariḡgahāvaṃtī — se appaṃ vā, bahuṃ vā, anum vā, thūlaṃ vā, cittamaṃtaṃ vā, acittamaṃ, taṃ vā, etesu ceva pariḡgahāvaṃtī.*

**Whoever is seized by the passion of possessiveness, does so with respect to six kinds of beings that are few or many, subtle or gross, animate or inanimate is subject to the passion of possession on account of his clinging to those objects.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 31**

Things are made of matter, and as such they are not possessions. They become so when they are seized by the person on account of his clinging. Clinging is accepted as possession,<sup>27</sup> though in the present Sūtra the things themselves are overtly mentioned as possession.

*5.32 etadevegeṣiṃ mahabbhayaṃ bhavati, logavittaṃ ca ṇaṃ uvehāe.*

**The possession is the source of terrible fear for some people. Look at the conduct of the people.**

## Bhāṣyaṃ Sūtra 32

The possessions are of three kinds: body, karma and things. Some people renounce the things but have clinging to the body, and this body becomes a source of great fear for them. Look closely at the conduct of the people. Just as they produce terrible fear on account of their clinging to wealth and property, exactly so their clinging to body<sup>28</sup> is the source of terrible fear.

5.33 *ee saṃge avijānato.*

**For the ignorant these things are sources of temptation.**

## Bhāṣyaṃ Sūtra 33

These things and the body are the causes of temptation<sup>29</sup> for the ignorant,<sup>30</sup> that is, they are the sources of attachment. Here the Sūtra has clarified that things are not the producers of temptation by themselves. They produce temptation to an ignorant person. They cannot do so in the case of the enlightened person.<sup>31</sup>

5.34 *se supaḍibuddhaṃ sūvaṇīyaṃ ti ṇaccā, purisā! paramacakkhū! viparakkamā.*

**The fact that the possessions are the cause of great fear is clearly known and illustrated. You, the possessor of the eye of wisdom as you are, should exert for restraining the passion of possessiveness.**

## Bhāṣyaṃ Sūtra 34

It has been well understood and well explained by the seers that possession is the cause of great fear. Knowing that it has been explained to the disciples by well-ascertained reasons, you who are a person of great vision should exert properly and in various ways for the fulfillment of the virtue of non-possession.

5.35 *etesu ceva baṃbhaceraṇ ti bemi.*

**Celibacy finds its fulfilment only in the practitioner of restraint with respect to possessions — thus do I say.**

## Bhāṣyaṃ Sūtra 35

Only the people freed from possessiveness are capable of observing celibacy — thus do I say. ‘Celibacy’ means self-absorption, control of the sex or living with the teacher.<sup>32</sup> A person, entangled in the things of the world, cannot live in himself.

For a person attracted by the things of the world, it is not easy to practise celibacy nor it is easy for the non-restrained person to live in the family of the teacher. The implication is that it is only the person free from possession who can practise the vow of celibacy in all its aspects.

5.36 *se suyam ca me ajjhatthiyam ca me, “baṃdha-pamokkho tujjha ajjhattheva.”*

**I have heard, I have experienced — Bondage and emancipation are within yourself.**

## Bhāṣyaṃ Sūtra 36

The Sūtra says that the bondage is only in your inner self. In the same way the emancipation is also in your inner self.<sup>33</sup> The lust for things is the cause of bondage. The non-attachment to things is the cause of emancipation. This I have heard from the Lord, I have thought about it myself, and I have also found it by my own experience.<sup>34</sup>

The soul itself is the maker of the karma, and so the karmic bondage is due to the soul. He is also the unmaker of karma and the liberation from karma is due to the soul itself. The implication is that the soul is the creator of bondage as well as of liberation. Had God been the creator, what purpose would be served by karma, karmic bondage and liberation? To incur bondage in order to achieve liberation is an act that only an ignorant person will indulge.

The soul, due to its laxity and non-vigilance, creates its own bondage by attracting karmic particles on account of its own inauspicious enthusiasm, action, strength, energy, self-exertion and stamina. On the other hand the soul itself due to its self-aware vigilance effects its own liberation from karmic bondage by means of its own auspicious

enthusiasm, action, strength, energy, self-exertion and stamina. The soul is also capable of altering the karmic course by the process of premature fruition and interchange of the nature of karma. It is thus established that the bondage and liberation are due to the soul itself, and not any other external agency like god.

5.37 *ettha virate aṇagāre, dīharāyaṃ titikkhae. pamatte bahiyā pāsa, appamatto parivvāe.*

**The ascetic detached from possessiveness should endure hardships all through his life. Look, the careless people live outside the realm of self-discipline. You should, therefore, be vigilant and live in yourself.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 37**

The monk who has renounced the possessions has to tolerate the privations and hardships due to the non-possession forever throughout his life. You should see that the people who are infatuated with possessions and find delight in them are situated outside the realization of the self. Knowing that the non-vigilant person is never emancipated, while the vigilant one is sure to be emancipated, you should renounce the world, being free from non-vigilance.<sup>35</sup>

5.38 *eyaṃ moṇaṃ sammaṃ aṇuvāsijjāsi. — tti bemi.*

**‘You should properly maintain the state of monkhood.’ — Thus do I say.**

### **Bhāṣyaṃ Sūtra 38**

The man entangled in possessiveness is outside the realm of self-realization. The essence of this Sūtra deserves careful reflection. Merely hearing and reciting is not enough for getting into the meaning of the Sūtra. So long as the text heard or recited is not practised and experienced within oneself, it is not possible even to think of the actual application of the truth in day-to-day life.

The Sūtra, therefore, concludes with the injunction: ‘one should properly maintain the state of his monkhood.’

The monkhood means the practice of non-possessiveness and self-restraint.

1. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 165 : aṇāraṃbho ṇāma saṃjamo aṇāraṃbhajīvaṇasīlā, etesu ceva chakkāesu āraṃbheṇa ṇa jīvaṃti, ahavā imdiyavisayakasāesu āraṃbhajīvī, tavvivarīyajīvaṇasīlā aṇāraṃbhajīvī, jaṃ bhanitaṃ — saṃjatā.  
 (b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 185 : āraṃbhah — sāvadyānuṣṭhānaṃ pramattayogo vā, uktam ca —  
 ‘ādāṇe nikkheve bhāsussagge aṃthāṇaggamaṇāī.  
 savvo pamattajogo samaṇassa’vi hoi āraṃbho..  
 tadviparyayena tvaṇāraṃbhastena jīvitum śīlaṃ yeṣāṃ.  
 ityanāraṃbhajīvino yatayaḥ samastāraṃbhanivṛttāh.’
2. Apte, jus (joṣati, joṣayati - te) = To Investigate, examine; juṣa (juṣate) = to devote or attach one-self to.
3. (a) Śīvasvarodaya, 136, 138 :  
 anādirviṣmaḥ sandhimirāhāro nirākulaḥ.  
 pare sūkṣame vilīyeta sā saṃdhyā sidibhrucyate..  
 na sandhyā sandhirityāhuḥ sandhyā sandhinirgadyate.  
 viṣamaḥ sandhigḥaḥ prāṇaḥ sa sandhiḥ sandhirucyate..  
 (b) śīvasaṃhita, 5.77 :  
 suptā nāgopamā hyeṣā, sphūrantī prabhayā svayā.  
 ahivat saṃdhisamsthānā, vāgdevī bījasamjñikā..
4. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 165 : bhāvasaṃdhī kammavivaraṃ .....l  
 (b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 185 : ..... samyaktvāvāptihetubhūtakar-  
 mmavivaralakṣaṇaḥ sandhiḥ.
5. śīvasaṃhita, 5.76 :  
 saṃveṣṭya sakalā nāḍīḥ sārddhatrikuṭīlākṛtiḥ.  
 mukhe niveśya sā pucchaṃ, suṣumṇāvivare sthitā..
6. śīvasaṃhita, 5.153 :  
 tasya madhye suṣumṇāyā mūlaṃ savivaraṃ sthitam.  
 brahmarandhraṃ tadevoktamāmūlādhārapaṅkajam..
7. (a) Nandī Cūrṇi, p. 16.  
 (b) Ibid, p. 15 : so ya khayavasamo guṇamaṃtareṇa guṇapaḍivattito vā bhavati.  
 guṇamaṃtareṇa jahā gagaṇabbhacchādite ahāpavattito chiddenaṃ  
 dīṇakarakiraṇa vva viṇissitā davvamujjovamti tahā’vadhi  
 āvaraṇakhayavasame avadhilaṃbho adhāpavattito viṇṇeto.
8. (a) śīvasaṃhita, 5.60 :  
 śiraḥ kapāle rudrākṣavivaraṃ cintayed yadā.  
 tadā jyotiḥprakāśaḥ syād vidyutpuṅjasamaprabhaḥ..  
 (b) According to science, the pituitary gland is situated in an aperture.



9. Dhavalā, book no.-13, khanda no. 5, part 5, sūtra 56, p. 296 : ohiṇāṇaṃ<sup>4</sup> aṇeyakhettaṃ ceva, savva-jīvapadesesu akkameṇa khaovasamaṃ gadesu sarīregadeseneva bajjhaṭṭhāvagamāṇuvavattīdo. ṇa, aṇṇattha karaṇābhāveṇa karaṇasarūveṇa pariṇadasarīregadesena tadvagamassa virahābhāvādo.
10. Ṣaṭkhaṇḍāgama, book no.-13, khaṇḍa no. 5, part 5, sūtra 57, 58, p.296 : khettado tāva aṇeyasaṃṭhāṇasaṃṭhidā 115711 sirivaccha-kalasa-saṃkha-sotthiya-ṇaṃdāattādīṇi saṃṭhāṇāṇi ṇādavvāṇi bhavaṃṭi 115811
11. Suśrutasaṃhitā, sārīrasthānam, 5.26; 6.31.
12. (a) Suśrutasaṃhitā, sārīrasthānam, 5.24 : Translation by Atrideva, note by Pt. Lalchand Vaidya, p.320 : “Sandhi is the juncture of bones. Although they are not mutually meeting or united, there is a mucus called *śleṣana* (synthesizer) in between them. Sandhi is also known as *sandhana* or *śleṣa*.”
- (b) Suśrutasaṃhitā, sārīrasthānam, 5.28 :  
asthnāṃ tu sandhayo hye te kevalāḥ parikīrtitāḥ.  
peśīsnāyusirāṇāṃ tu sandhisamkhyā na vidyate..
13. Susrutasaṃhitā, sārīrasthānam, 5.27 : ta ete sandhyo’ṣṭvidhāḥ — kora-udūkhala-sāmudgapratara-tunnasevanī-vāyasa-tuṇḍa-maṇḍala-śaṅkhāvartāḥ.  
The shapes of the *karaṇa* are to be compared with these.
14. *Ibid*, sārīrasthānam, 6.16.
15. Syādvādamaṃjarī, p. 77.
16. (a) Suśrutasaṃhitā, sārīrasthānam, 6.3-4 : tāni marmāṇi pañcātmaṅkāni bhavanti, tadyathā—māmsamarmāṇi, sirāmarmāṇi, snāyumarmāṇi, asthimarmāṇi, sandhimarmāṇi, ceti. .... tatraikādaśa māmsamarmāṇi, ekacatvāriṃśat sirāmarmāṇi saptarviṃśatiḥ snāyumarmāṇi, aṣṭāvasthimarmāṇi, viṃśatiḥ sandhimarmāṇi ceti. tadetat saptottaraṃ marmaśatam.
- (b) Suśrutasaṃhitā, sārīrasthānam, 6.8 : tānyetāni pañcavikalpāni bhavanti, tadyathā — sadyaḥ prāṇaharāṇi, kālāntaraprāṇaharāṇi, viśalyaghnāni, vaikalyakarāṇi, rujākarāṇi ceti.
- (c) *Ibid*, sārīrasthānam, 6.9 :  
śṛṅgāṭakānyadhipatiḥ, saṃkhau kaṃṭhasirā gudam.  
hṛdayaṃ vastinābhī ca, ghnanti sadyo hatāni tu..
- (d) *Ibid*, sārīrasthānam, 6.15 : marmāṇi nāma māmsasirāsnāyavasthisandhisannipātāḥ, teṣu svabhāvat eva viśeṣeṇa prāṇāstiṣṭhanti, tasmānmarmasvabhihatāstāmstān bhāvānāpadyante.
- (e) *Ibid*, sārīrasthānam, 6.25 : tatra vātavarconirasanaṃ sthulāntrapratibaddhaṃ guḍaṃ nāma marma. .... alpamāmsaṣoṇito’bhyantarataḥ kaṭyāṃ mūtrāśayo vastiḥ ..... pakvāmāśayayormadhye sirāprabhavā nābhi..... stanayoḥ madhyamadhiṣṭhāyoraśyāmā śayadvāraṃ satvarajastamasāma-dhiṣṭhānaṃ hṛdayam.

(f) *Ibid*, sārīrasthānam, 6.27 : tatra kaṅṭhanādīmubhayataścatasro dhamanyo dve nīle dve ca manye.....kaṅṭhapṛṣṭhatodhaḥ saṃśrite vidhure ..... ghrānamārgamubhayataḥ srotomārgapratibaddhe abhyantarataḥ phaṇe ..... bhrūpucchāntayoradho'kṣaṇoḥ bāhyato'pāngau ..... bhruvorantarayo-rupari kaṅṭhalalāṭayormadhyeśaṅkhau, ..... ghrāṇaśrotrākṣijihvāsamtarpaṇīnām sirāṇām madhye sirāsannipātaḥ śṛṅgāṭakāni, tāni cattvāri marmāni ..... mastakābhyantaropariṣṭāt sirāsandhisa-nnipāto romāvartau'dhipatiḥ.

(g) *Ibid*, sārīrasthānam, 6.27, p.331: special note by Pt. Lalchand Vaidya — “*adhipati marma* — this is one of the vital places in the human body, situated at the top of the head. The hair of the eye-brows are related to it. A vein here is considered to be unpercible. The bone above it has a small aperture in it and this is called ‘*brahmarandhra*’ (i.e. an aperture in the crown of the head through which the soul is said to escape on its leaving the body). But, at the age of one year in the childhood, this aperture is filled up. If a plum is placed on the head of a just born child, the pulpitations of the vein (or artery) there can be filled. The etymological meaning of the word *adhipati* is — “*adhikṛtya pati rakṣati iti adhipatiḥ.*” — “The soul protects the body by having its ownership of this place.” — In the *Puranas*, it is referred to as “*brahmaloka*”, in the *Vaiṣṇva Puranas* as *Viṣṇuloka* or *vaikunṭha*, in the *Śaiva Purāṇa* as *śivaloka* or *kailāśa*, in the *Gītā* as ‘*urdhvamūla*, it being the *mūla* i.e. root of *adhaḥśākha*’ body. It is the root of the life. In *Yogaśāstra*, the centre situated inside the back of the head is called *śivarandhra*. This is the belief of the *śaivas*; they consider it to be the nucleus of life. This is their idea, but it should be understood that the head is the main centre of all the 23 vitals. The synonym for the head is “the best organ” (*uttamāṅga*). Lord Punarvasu has written:

prāṇḥ prāṇabhṛtām yatra, sthitāḥ sarvandriyāni ca.  
taduttamāṅgamaṅgānām, śīrastadabhidhīyate..

(h) It is written in the *caraka* (Caraka. Saṃhitā, a. 9.6): There are 107 marmas vitals) . When these vitals are hurt, man or animal experiences extreme pain (which is much more in comparison to other organs). This is because, the vital energy (*prāṇa*) is much more concentrated in and related to these places. The vitals situated at the trunk are more important than those at the branches. Among them heart, genitals, and head (the nucleus of the 23 vitals including the neck) have even greater importance, because the whole body is subjugated to these three vitals.”

17. Yājñavalkya Gītā.

18. Ācārāṅga Vṛtti, patra 185 : vigrahaḥ — audārikam śarīram tasya ayam vārtamānikakṣaṇaḥ evamb-hūtaḥ sukhaduḥkhānyatararūpaśca gataḥ evambhūtaśca bhāvītyevaṃ yaḥ kṣaṇānveṣaṇaśilah so'nveṣī sadā'pramattaḥ syāditi.

19. Apte, Kṣanaḥ : center, middle.
20. The *Sādhana* propounded by Bhagavān Mahāvīra essentially consists in 'remaining vigilant moment after moment.' Out of the various techniques prescribed for remaining vigilant, the prime one is to perceive in meditation with the mind's eye the phenomena and sensations taking place in one's own body. A *sādhaka* who concentrates his perception on the sensations of pain and pleasure ever present in the gross body, i.e. one who discovers the state of the body every moment, remains vigilant.

This meditational technique of concentration of perception of the body leads one to become introvert. Thus the gross body serves as a medium of turning the outwardly directed flow of consciousness inward.

The two subtle bodies—the *Taijas* (i.e. the electrical body) and *karma*-body—exist in the interior of the gross one and the soul is further in the interior of these two. One who practises the concentration of the perception of the phenomena and sensations of one's gross body, gradually succeeds in perceiving the subtle bodies. By further practice of this technique of meditation and training the mind for such perception, one begins to realize the current of consciousness flowing in the gross body. As the *sādhaka* proceeds progressively from perception of the gross to that of the subtle, the intensity of his vigilance increases.

21. See Āyāro, 2.47, 2.119.
22. See Āyāro, 3.75.
23. See Āyāro, 2.22.
24. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 167 : samagamaṇaṃ samiyā, pāragamaṇaṃ pariyāe.  
(b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 186 : sa smyakparyāyaḥ śamitāparyāyo vā vyākhyātaḥ.
25. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 168 : rūvamiti savveṇḍiyāvattḥāṇaṃ sarīraṃ.  
(b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 187.
26. asya vyākhyā 'puvviṃ vā pacchā vā avassavippajahiyavvaṃ bhavissai' (Bhagavaī 9.172) iti pāṭhasya saṃdarbhe saṃgacchate. Cūrṇikāreṇa atra catvāraḥ vikalpāḥ prastutāḥ. tatra caturtho vikalpaḥ saṃgatosti — tahā puvve pacchime vā vaye (Cūrṇi, p, 167).  
Vṛttikṛtā bhinnarūpeṇa vyākhyā kṛtāsti — se puvvamityādi, sa sṛṣṭaḥ pīḍitaḥ āśukāribhi-rātaṃkairataḥ bhāvayed — asātāvedanīyavipākajaniṭaṃ duḥkhaṃ mayaiṃ soḍhavyaṃ, paścādāpye-tamanyaiṃ sahanīyam (Vṛtti, patra 186).
27. Dasaveyāliyaṃ, 6.20 mūrccā parigrahaḥ.
28. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 169 : loge vittaṃ ca ṇaṃ logacarittaṃ, jahā logo dhaṇa āhārasarīrātimucchito tahā uddamḍagātīvi sarīramucchāto tavvittā .... tattha logo — gihīṇo, tesim, vittaṃ — dhaṇadhannāi caṇamiti pūraṇe taṃ uvikkha, kimiti? jahā logassa pucchāpariggahāi vittaṃ mahabbhayaṃ, tahā ..... sarīrameva mahabbhayaṃ.

- (b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 188 : lokasya — asaṃyatalokasya vittaṃ — dravyamalpādiviśeṣaṇaviśiṣṭaṃ ..... lokavittaṃ lokavṛttaṃ vā āhārabhayamaithunaparigrahotkaṭasamjñātmakam mahate bhayāya.
29. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 170 : kassa so saṃgo? — aviyāṇato dhammovāyaṃ ca.
30. *Ibid*, p. 170 : saṃgotti vā vigghotti vā vakkhoḍḍitti vā egaṭṭhā.
31. Vṛttikṛtā etat sūtraṃ bhinnarūpeṇa vyākhyātam — enān alpādidravyaparigrahasaṅgān śārīrāhārādi-saṅgān vā avijānataḥ akurvāṇasya vā tatparigrahanitaṃ mahābhayaṃ na syāt. (Vṛtti, patra 188).
32. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 170 : uvatthasaṃjamo gurukulavāsaṃ vā baṃbhaceraṃ, ahavā etesu ceva āraṃbhapariggahesu bhāvaḥ vippamukkaṃ baṃbhaceraṃti.
- (b) The word *brahmacarya* can be interpreted in three ways :
- [a] Control of sex organs
- [b] Living in a religious order, and
- [c] Self-discipline.
- Body is also a kind of possession. One who is attached to the body cannot control his sex organs.
- One who is attached to the body and the worldly objects can neither live under the discipline of the teacher in a religious order nor can he follow the rules of ascetic life including non-violence.
- All the three meanings stated above are applicable here, but the third meaning is more relevant.
- 33-34. ‘ajjhatthiyaṃ’ tathā ‘ajjhattha’ ete dve api pade viśiṣṭaṃ prayukte staḥ. saṃskṛtasamatvena ‘ajjhatthiyaṃ’ tathā ‘ajjhatam’ iti prayogaḥ saṃgataḥ syāt. prācīnaprākṛte tthakārasya prayogaḥ syādnumataḥ. ajjhatthitaṃ ūhitaṃ guṇitaṃ ciṃtitaṃti egaṭṭhā. (Ācārāṅga Cūrṇi, p. 171).
35. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 171 : appamāo saṃjamaṇupālaṇatthaṃ payatto, ahavā paṃcavihapamāyavai-ritto appamatto, ahavā jataṇaappamatto ya kasāyaappamatto ya, jayaṇaappamatto saṃjamaṇupāla-ṇatṭhāe iriyātiuvatto, kasāyaappamatto jassa kasāyā khīṇa uvasaṃtā vā.

# The Concept of Anekānta

Late Dr L. M. Singhvi

I am deeply conscious of the profound complexity of the subject and my inadequacy, I don't say total inadequacy, because everything is relative and my relative inadequacy to deal with it. In a sense, the subject has been profound in its own inimitable mastery, that the most extraordinary presentation that I have come across by Ācārya Mahāprajña in two books which are seminal in terms of philosophical enquiry, in terms of giving in a sense of wholeness, giving us a sense of diversities which constitute the whole world. Some time ago, when I had the occasion to write a forward to a book. I came across that the most extraordinary scientific validation of the ancient enquiry into consciousness in our country, *Advaita*, *Dvaita* two philosophical categories as it were. These two categories are considered to be compartments. But in Indian thought and in the exposition of Ācārya Mahāprajña, an extraordinary achievement is that he has been able to bring about a dialogue and reconciliation of the great philosophy of *advaita* in our country. The great philosophy of anekānta which recognize as diversities. Very often we speak in our country of unity in diversities. Anekāntavāda is unity in diversities and diversity in unity. This is really the most remarkable exposition of the entire enquiry which had occupied our ancestors and which is beginning to occupy the world today. There is a small sutra which is traced to Lord Mahāvīra, which is what Ācārya Mahāprajña started with in different expositions - sathvajinjasa. But deeper than that is Lord Mahāvīra's proposition that the world

is truth: Truth is implicit in this world. Truth is manifested, truth is integrated to this world - *saccam lokam missabhuyam*. This is an extraordinary proposition, which ultimately takes us to one very basic proposition. I am not talking, at the moment, about *anekānta* as something of denominational label. Because in our ancient heritage we did not wear the denominational label which is become more fashionable now. This is the most extraordinary achievement that there was a reconciliation of root thought. Root thoughts are very difficult to reconcile because they stand, ostensibly, in different categories.

There is a beautiful book called *Syādavādamañjarī*. *Syādvāda* is another name given to *anekānta*. There are three names that we should be familiar with *saptabhaṅgī naya* at the outset, as a matter of semantic. *Anekāntavāda*, *syādvād* and sometimes its called *saptabhaṅgī naya* (the logic of seven propositions). In that *Syādavādamañjarī* there is a very beautiful expression which I am sure would form the basis of reconciliation of *advaita* with *dvaita* through *anekāntavāda*. ‘*Eko bhāva sarvathā yena draṣṭā, sarve bhāva sarvathā tena draṣṭā....*’ He who knows one, he knows all, he who knows all knows one. This is the basic proposition, that you cannot know all unless you know one, you cannot know unity unless you know diversities. You cannot understand diversities unless you know the unity. This is where the reconciliation takes place very beautifully. There was an Acharya Amrita Chandra who expounded *anekānta* with a folk imagery-imaging of a seemingly common occurrence in our lives in the countryside at one time in every home and now remaining only in the romance of Lord Krishna. The imageries are very beautiful. The imagery is how the churning process takes place. The churning process has special meaning, whether we look at the churning process in Vrindavan or the churning process which brought the *amṛta* by churning the ocean. It says that the lady while churning puts one hand in front and other hand goes behind. By this constant process of the two hands one going forward and one going backward, there is the triumph of *Anekānta*. I ask myself why the triumph of *anekānta*? Because there is *navanīta*. That is which the cream of thought brought out through this churning process. *Antenajayati anekāntam*. I made a slight variation in the original śloka for my purpose,

*ekenakarṣayantī slathayantī vastutatvमितारेण /  
antena jayati jainī nitirmanthannetramiva gopī //*

Just as the gopī works at the churning process to bring out the cream this is how the two hands play an important role in distilling thought. This doctrine ultimately has the basis of Jain philosophy and has been used in later years in *nyāya*, *mīmāṃsā* and *sāṃkhya*. There was this interconnectedness of Indian philosophy. Once again I seek to point out that Indian philosophy is not denominational although it became denominational in later years. The philosophical thought was a great discourse on reality. The Jains are called the realists in Indian philosophical tradition and the others were called idealists. But where the real and ideal become the two side of the same coin that is what *anekānta* is. *Anekānta* is in a sense an epistemological enquiry - a method of finding knowledge. It is also on the other hand, an irresistible logical constant. It is what I called the *saptabhaṅgīnaya*, the seven propositions. All of these seven propositions can be said to be seven aspects of the same thing that we perceive with our eyes. It is also a practical experimental theory. As Ācārya Mahāprajña said, it is not just philosophical wordage. It is the depth of our action in our life which is dominated by or propelled by, a world view an approach to knowledge, approach to philosophy and approach to ethical quantum, which is fundamental to Jain tradition. Other traditions of India because of we were not able to accept a mere verbal words as the reality we thought it has to be in *jñāna*, *darśana* and *cāritra*. Unless the interconnectedness between knowledge, perspective of philosophy and actual action is established Indian philosophy, as a whole was never satisfied with the mere idea or thought. It has been expressed in life. In fact the meaning of a *Riṣi* is not a kind of a seer sitting in an ivory tower. The meaning of *Riṣi* is he who sees and not only in the external way but lives what he sees. It is a remarkable tradition of the integrated whole of life and gives us the most holistic vision of life because the gaps which thought and philosophy are covered with knowledge with action in our philosophical tradition or in the tradition of one's life in our country. It is a framework or a methodological approach. It is a world view and these are all true of the *anekāntavāda*. But it is also true that

some people said this is nothing but skepticism. If it is skepticism, it is a healthy kind of skepticism. *Jijñāsā* starts with doubts and skepticism. I have spent my whole life in law although I spent much of it in studying philosophy and literature. I found a very interesting, engaging, humourous story my Guru K.Munshi used to say. He used to say that in the court somebody appeared with a case and said this case must be decreed because it is absolutely unanswerable. The Judge nodded his head and said yes. And then the opposition came up and said there is no case it must be dismissed, there is no substance in this case. The Judge nodded and said yes, you are right. Somebody got up and said how can be they both right. And the Judge said, you are also right. This really expresses to you the complex nature of reality. And the propositions which make for understanding. Somebody asked me what if you were the Judge how would you decide if they were all right. I said the decision would be rendered by the predominance of what is right. You do not accept anything and everything, but understand anything and everything. Without a recognition of the reality of diversities, you can not understand them all. And by rejecting them you are exercising prejudice. Therefore, here is a philosophy of approaching the reality with sincerity of purpose, and the respect for others. That is why it is philosophy of tolerance. Some times I said our tradition has also -inbuilt fundamentalism. It is fundamentalism of intolerance of intolerance. But I think *anekānta* was one step further. It tolerates even intolerance in order to understand it. This is how one has to approach *syādvāda* as the way of comprehending reality. It is there philosophically multiple nature of reality.

At the very interesting philosophical proposition the effect is pre existent because it was already in the process of coming. But it is non existent to your eyes because you can not see then you have the effect and the cause as identical and yet different-it is distinct. What is different is the reality also. Identity and difference, both are reality and it is then we come to the conclusion of non absolutism of perception or more happily put, it means the compilation of contradictions or even more happily put, it would mean the coexistence of contradiction. The coexistence of contradiction has been expounded in the philosophical



traditions of India in various different ways and anekĀnta is one of the major philosophy approaches to this coexistence and a reconciliation of contradictions. The central thesis of anekĀnta is that there is diversity in realities and that each reality is diverse, all realities are interrelated and that there is a certain commonality between those diversities, as it were. Because there is *bheda* and *abheda* - difference and no difference, a total unity of consciousness *anekānta* will say you are right but are not entirely right. There is a proviso if being right, it is *nyāyavyavasthā*. It is as though the philosophical concept went through a very sophisticated classification as it were. The idea was gathered together into the framework.

But *bhedgrāhī*, *abhedgrāhī* - these two classifications are broadly made and as Ācārya Mahāprajña explained very beautifully and with simplicity, he said *dravyārthī* - *pariyāyārthī*. You can say this is right and that is wrong. That is not right this is right. *AnekĀnta* says the *dravyārthī* is right because there is a substance and you must remember the Jaina tradition does not believe in anthropomorphic conception of universe. They do not believe that there was god who sat for seven or six days to create this world. They say the world is without a beginning and without an end. Implicit is that philosophical proposition is the assertion that the elements under go change. So there is existence. Then from existence there is transformation. It travels from one form to other one. There is persistence, it stays yet it changes. So in the changing world there is something which is constant and in a constant world something which is ever changing. This is very important to understand. Because in terms of relativity *sāpekṣitā*, we call it *anekāntavāda*, *sāpekṣvāda* or contextual relative reality. And in this contextual reality you have the cosmology. It is in that that you have a concept of what you see and what you do not see. What is present before your eyes is one aspect. Cosmic consciousness is that which is not present before your eyes. So you have *dravya* and *pariyāya*. One says I reject *pariyāya*. *Pariyāya* says I reject *dravya*. *Anekānta* says no. This outright rejection is not holistic because both are true in part. But I see, (Jaina tradition does not accept the theory of illusion) *Brahmasatyam jagat mithyā* is very differently interpreted. If it is naṛvara evanescent it is not mithyā. It's a part of reality. It is evanescent. Everybody

knows that evanescence is the law of life. But evanescent does not make it *mithyā*. On the other hand, it does not make it illusion, it also does not make them accept the fact of *śūnyavāda*. That is the point departure of these branches of *Śramaṇic* traditions. The Jains and Buddhist tradition. These are the very ancient traditions, which go back to the times of Vedas. The Jains opted more strongly for *ātmavādī* philosophy. The Soul is central. The Soul is vital to Jain philosophy. Soul is also there in Buddhist philosophy. I tried to examine their relationship in a big conference, which was held in Attamy, Japan, because I think the meeting point of Jainism and Buddhism are strong. The *Arhat* tradition is common to them both and yet in a sense, the point departure is very sharp.

Buddhism does not fully depend on *ātmavādī*, but it does not reject *ātmā* also. It has the theory of *punarjanma*. *Punarjanma* is something which is accepted. But *anekānta* is much closer to *Sāṃkyā* and *Mīmāṃsā*. It is not so close to *Vaiśeṣikī*. The *Vaiśeṣikī* say a man or a thing perishes, it disappears. Jain *Mīmāṃsā* says no, when a thing perishes it is transformed. It does not disappear altogether. It disappears from our view as a pot when it is broken. There is a very beautiful conversation with Lord Mahāvīra had on wholeness. He said do you think that a broken *cakra* is a whole of *cakra*? And he gives ten examples of this.

Jain have been accused of being *Veda-virodhī*. Lord Mahāvīra himself refused that concept. The whole point is that the reality has to be seen both in the perceptive of diversity and in the perceptive of unity. The following example is often given. There is a jar and you see the jar, but you do not see the clay, which it is made of. There is clay in the jar. If you do not accept the existence of clay in the jar then you accept only the form of the jar, without accepting the content of it what constitutes it. So it is important therefore, to compare *Mīmāṃsā* and *Sāṃkyā* with *anekānta* philosophy because they maintain the cessation is not absolute. *Dravya* perishes, but it does not disappear altogether. It may be born, it may be in another shape. That is where the *Vaiśeṣika* and *Sāṃkyā* have formed their departure. That is where Jainism is in accord with *Mīmāṃsā*. The Jain conception avoids two concepts, which are important. The concept of *śūnya* is avoided. In that respect one might say that the

Buddhism is much closer to *Vaiśeṣika*. Fluxism or *sūnya* or illusion (*māyā*) are two concepts which are not accepted in Jainism. The world is real. The world exists. Things are originated only by change of form all the time. There is cessation but there is persistence of existence, because forms are changing all the time. That is the sense of reality which *anekānta* brings to bear on all the philosophical analysis of the world as is seen. What is *naśvara*? What changes in form is not *mithyā*. It changes form but it is not *mithyā*. The world is *naśvara*, we are mortals, but you are changing forms, and in that sense the *Sāṃkya* in *Gītā* or *Aṣṭāvakra Gītā* and Kriṣṇa is very close to this concept of non cessation of appearance and persistence in continuity. Those are important. One might say what is the relevance of it at all. Because you do look at in terms of compartment or continuity. Does it have some impact on our lives? *Pāramārthika*, *Vyavahārika*, *Prātibhāṣika*, these are logical concepts. These are concepts of trying to approach reality. *Pāramārthika* is common to all the spiritual traditions of East, particularly of India. *Vyavahārika* is the *Jagat* or the world. The great battle ground of ideas is *jagat* in every sense of the world. And then third is *Prātibhāṣika*, it is a form of the mystic and of perception. An example of this found in almost all sects is *rajju sarpa bhrama*. When you see a rope you think it is a snake. For the moment you see it you may jump up but when you find it is only a rope, which had the appearance of snake that what called *rajju, sarpa bhrama*. That *Prātibhāṣika* is something which is accepted everywhere. But the real battleground is the *Vyavahārika jagat*. The world is a practical reality, world of existential reality. Buddha accepts two concepts which are important. *Pāramārthika Samvratī satya*. *Samvratī satya* is *saddriśyabodha*. This is what it is. It is very important. It ultimately reduced to *karuṇā* and empathy which is fundamental to all the spiritual tradition of India. But it is important that *Pāramārthika, anityavedabodhi* as its called in Buddhism, is the central point of that tradition. And that centrality of *anityatva bodha* does not permit the accept once of any thing else real except that *Pāramārthika* or *anityatva bodha*. That is why Ācārya Mahāprajña said *Nitya, Anitya, Nityanitya*. These are two *nayas- niścaya naya, vyavahāra naya*. And they say both are real. And it brings it closer

to our understandings of the world, which cannot be divorced from the spiritual reality and cannot say farewell to the existential reality. And that is where *anekānta* begins to play a very important part. Absolute negativism is not accepted in *anekānta*. Absolute particularism is also not accepted in *anekānta*. Then what is accepted in *anekānta* is that there are two opposites and those two opposites are real. Well, Ādi Śankarācārya said, *Brahmasatyam jaganmithyā*. I think he did not mean what we have come to understand him to be. That is the great mistake that happened in India. That's what Glenn Alber Spiticher, a great man who loved India and Indian spiritual tradition has to say I can not understand why religions are taking people away from humanity because, he said, if this *pāralaukika* thing is the only truth then where is this world? This is our relationship with the universe in which we live. What are our humanitarian obligations. That was an issue which was first answered very beautifully by Mahatma Gandhi in his life and world. Mahatma Gandhi was a great philosopher who used simple words to convey his philosophical ideas. I think one should remember in the every thing he did and every word he spoke and every step he took. There was deep philosophy implicit in what Mahatma Gandhi did and that was the reconciliation of which I speak and which has been philosophically brought together by Acharya Mahaprajna. *Sāṃkhya* for instance has this concept of *Prakṛti* and *Puruṣa*. And it says, if you do not see the difference between *Prakṛti* and *Puruṣa* you are ignorant. That is where in Jainism, *anekānta* also found a point of departure from *Sāṃkhya* a very highly sophisticated discourse of philosophy of India. And it was the discourse in which very common people participated or internalized it. *Vedānta* say *prapañca* and *mithyā* and if you consider *prapañca* and *mithyā* as one then you are in a system. If you consider them a different then you are differentiating because *prapañca* after all a manifestation of *Brahma*. *Brahman* and *prapañca* are really speaking two manifestations. One is illusion but it is ultimately the world is a manifestation of the divine principle. The Jain accepts both the *cetana* and *acetana*. *Cetana* and *acetana* are both given space and they say *saṃyukta darśana*. The balance of reasoning leads us to the conclusion that the *cetana* is real and true

and *acetana* is real and true and that their differences are also true. They are different. Ācārya Mahāprajña himself defines *anekānta* as a comprehension of unity and coexistence in diversity. I have not come across a more definite euphorism on *anekānta*. And it says it all. *Anekānta*, I repeat, is comprehension of Unity and coexistence in diversity. It is a recommendation of diversity. When we speak about of Unity in Diversity we sometimes forget the diversity. Where it is interfaith or political or anything else, we must always remember that diversity has its place in society. In the comprehension of truth we must be able to comprehend unity in those diversities, you should be able to bring about coexistence between those diversities which may appear sometimes to be self contradictory or mutually contradictory. This is what leads to a very interesting principle discourse. The most important and fundamental norm of discourse is *pakṣa* and *pratipakṣa*. *Pakṣa - pratipakṣa* is very important principle of life. It is based on the philosophy that all existence is *dvipatha*. All existence has a coupling of opposities, a very interesting principle of the Universe. That is where *anekānta* is very relatively accommodative and it says *dvipathāvatāra* as a *sthānāṅga* is a form of expression and expression of all existence are of *dvipatha*. Man and woman. The best example in the world. But there is *jīva* and *ajīva*, *bandha - nirjarā*. I can multiply these instances in life of coupling two opposites. A physician will understand when a patient comes to him he is suffering from terrible pain and then in his logical way he does *nirjarā*. Surgery is *nirjarā* in one sense, because he removes the pain. There is, therefore, a reconciliation of the opposities. Physics, Metaphysics and the ethics of *anekānta*. It is important, therefore, to understand that in separateness of an atom or *paramāṇu* is the basic unit. In congregation of *paramāṇu* you have a *astikāya*. There is a *pradeśa*. There is a mass of the atoms and then these two atoms are joined, there is a *skanda* (bridge). This is an important thing from the point of view of modern universe as scientifically interpreted and the universe as seen by the ancient Jains. One very significant principle which Ācārya Mahāprajña spoke of is *dravya* (that which is always there) there is the *dhrauvya*. The permanence in impermanence and impermanence in permanance. Permanance in impermanace we always

see the elements change its form. Therefore they are permanent. Impermanence in permanence we see *naśvara*. Unless we understand this we cannot understand the basic philosophy of *syādvāda*. Why? This is not a philosophy of skepticism. But this is a philosophy of holistic understanding of all the diversities that belongs to a whole. There is *bheda* - *abheda* and *astitva* - *nāstitva*, *vācya* - *avācya*. These are categories of the opposites. They are not totally differentiated, not totally uniformed. They are not the same, and they are not totally different. So there is a certain bridge between them. *Anekānta* thus is the philosophical and ethical perceptive of reality. Let me read out from Ācārya Mahāprajña's book seven proposition, in which he says *anekānta* is the third eye. Because it looks at the world with the eyes of certitude, *niścaya*. There is nothing perhaps about it. It is *niścaya*. It also looks at matter in the perspective of its permanence, *dravya*. Then it looks in the world with the ethical value of *kṣamatā*, equality and equanimity. It looks at the world at the form of *taṭasthatā*, you come to *Gīta* and you have *sakhyā bhāva*. That you are the witness. In that which you are actually viewing and seeing, but you are also able to see it with the feelings, the objectivity of a witness. So it brings you objectivity. In this objectivity there are two problems. There is *matāgraha* and there is *matadveṣa*. You have *durāgraha*, you have a great emphasis of your own point of view, but you are not prepared to listen to any other point of view. That is *matāgraha*. Sometimes when it becomes intolerance, it becomes *durāgraha*. It is, therefore, important to know that there has to be a *mādhyasthabhāva*. That is what *Sāṃkhya*, *Gītā*, *anekānta* particularly preaches. *Taṭasthabhāva*, *sakhyābhāva* and *mādhyasthabhāva*, that you are also mediating between the two opposites. This is the key to coexistence. You are mediating between the two opposites. When you are mediating you have to bring to it a certain spiritual strength and intellectual objectivity.

I spoke to you about three things. *nitya*, *anitya* and *nityānitya*. All are true in a sense that nothing is totally *nitya*, nothing is totally *anitya*. Ācārya Akalaṅkadeva was a great philosopher of *anekānta* (*anekānta* is also called *Akalaṅkanyaya* because of this deep exposition, *Akalaṅka* was his name but I think metaphorically this is the philosophy without a blemish.

*Akalaṅkanyaya* there, he says, *sāpekṣa-aya*, *nirapekṣa-durnaya*. There is nothing that is *nirapekṣa - sāpekṣatā*, if you see a thing in isolation. *Anekānta* is neither a prisoner of *dravya* nor a prisoner of *pariyāya*. It is a warden of both. It promotes both *dravya* and *pariyāya*. It accepts the *jagat*, the matter, the world. And it accepts the deeper spirituality of the deeper meaning of it. I remember a phrase - *na ekāntavādeṣvaka*, *ekānta - anekānta* are two opposites. But I think the phrase is *na ekāntavāde sukhaduḥkhabhogo / na puṇya pāpe na ca bandhamokṣau*. That is to say, these are in *ekāntavāda*, it is a opposite of *anekāntavāda*, you cannot really enjoy the world, you cannot even be melancholic about the world because you are *ekāntvādī*. *Na puṇya pāpe*. You don't understand *puṇya* you don't understand *pāpa*, and *bandha - mokṣa*, you do not understand the shackles in which you are, and you do not understand *sarveṣu*. But *anekānta* is necessary ultimately for you to understand both. You cannot understand *advaita* without understanding *dvaita* and vice-versa. You cannot understand diversity unless you understand unity.

I think I have said what I wanted to say. But I must come to the more secular aspect of this discourse of *anekānta*. Because without it for an ordinary mortal and householder that I am, it has no real meaning. *Anekānta* really is a rosary of many jewels, of many different thoughts, and this the thread of *anekānta* that joins these different jewels. But *anekānta* has an application in the discourse of politics and democracy. If you do not have *anekānta* you will not be able to carry on a healthy discourse of democracy even more so you can not carry on the healthy discourse of politics. I find *anekanta* is the key to understand and to successful diplomacy. *Anekānta* is necessary to understand both peace and war. The roots of war. The great authority of *Mahābhārata*, our Chaturvedi Badrinathji has analysed how in that battle ground has delivered the principal message of non-violence and peace. And it is remarkable that Gandhi saw in that battle ground of Kurukshetra unfolding the message of peace and non-violence. In the discourse of *sarvodaya* we need *anekānta*, because there can not be a *sarvodaya* unless it is all, it can not be all inclusive unless you accept the discourse of the diversified. In economics you have a problem of the finite resources and unlimited greed of mankind. In law you have a problem of

reconciling two opposites view point in the adversarial system. There are human rights needs and human responsibility. You have to build a bridge between them. You cannot do it unless you accept the philosophical postulate of *anekānta*. *Anekānta* is *Ahimsā*, in its larger application to life. *Anekānta* is *pārasparikatā*, the reciprocity which is *Ahimsā* or another form of *Ahimsā*. *Anekānta* is all to application to in the field of education. People talk about things not correctives of two partiality if there is any. People may talk about it in the language of condemnations. That is *ekānta*. *Anekānta* is the language of tolerance and corrections.

I would like to conclude with two little poetic expressions. One from the Islamic tradition and other from the Hindu tradition. I should say Ebrahmic tradition

*di gayi manzoor ko suli  
adetya darbab  
ba analhaq haq magar ek lub  
se gustak kanit*

People didn't understand there for Manzoor had to go to gallows. But Nirala put in please remember that it will have to be mentioned in the journal that these lectures have been compiled as they were delivered at IIC. They will be enhanced elaborated/served as the revised as the case may be before it comes out as a volume beautifully. Nirala was a great exponent of advait all that I have said so long in that four lines only. That's the greatness of that poet.

*tum ho akhil vishva me -  
ya yah akhil vishva hai tum me,  
athava akhil vishva tum ek/  
yah bhi dekh raha hum  
tum mem bhed anek/*

This is the last word is *aneka*, and that is where I end *anekānta*.

---

Note : Late Dr L.M.Singhvi delivered a talk on the concept of Anekānt in the lecture series on Anekānta held at India International Centre on .....



# IMPROVED PULMONARY FUNCTIONS AND POSITIVELY ALTERED GLYCOSYLATED HAEMOGLOBIN LEVEL IN NIDDM SUBJECTS AFTER PREKSHA YOGA THERAPY

J P N Mishra\*, S K Gupta\*\* and P S Shekhawat\*\*\*

## Introduction

Diabetes mellitus is not a single hereditary disease but a heterogeneous group of diseases, all of which ultimately lead to an elevation of glucose in the blood (hyperglycemia) and loss of glucose in the urine as hyperglycemia increases. The two major types of Diabetes Mellitus (DM) are there, in which Type II is a worst form of endocrinological diseases and is widely found in today's so called modern society. Type II diabetes is defined in essentially negative terms: it is a nonketotic form of diabetes that is not linked to HLA markers on the sixth chromosome; it has no islet cell, antibodies or any other immune component; and it is not dependent on exogenous insulin therapy to sustain life, thereby being termed "non insulin dependent diabetes mellitus" (NIDDM). In most cases of this type of diabetes, the cause is unknown<sup>1</sup>. This represents a heterogeneous group comprising milder forms of diabetes that occur predominantly in adults but occasionally in juveniles. Circulating endogenous insulin is sufficient to prevent ketoacidosis but is inadequate in the face of increased need owing to tissue insensitivity.

More than 2600 years ago Charaka, the father of Ayurvedic system of medicine<sup>2</sup> visualized NIDDM to be a disease where the body constituents are melted (converted) into sugar which are eventually excreted via urine; up-to-date, the concept albeit somewhat crude, remains valid. Every fifth person of the Indian

population is suffering from either form of DM, which has eventually affected the normal efficiency of a person in his/her professional and personal life.

Numerous metabolic and clinical disorders are associated with DM. The most common is cardiovascular. It is also a fact that hyperglycemic patients have a high incidence of pulmonary infection, which may lead to develop various respiratory disorders<sup>3</sup>. Deterioration of pulmonary function is proportional to the degree of hyperglycemia<sup>4,5</sup>. NIDDM is now acquiring the proportion of an epidemic so, now it has become a formidable task for the society to prevent it and that too by using a noninvasive and non-injurious technique. Glycosylated haemoglobin (HbA<sub>1c</sub>) concentration has been reported to be a significant variable depicting the risk of metabolic breakdown in NIDDM patients. Such patients have increased risk of cardiovascular and respiratory disorder.<sup>6</sup> Reduction in glycosylated haemoglobin through adequate blood glucose control in people with NIDDM also reduces the risk of microvascular and respiratory diseases.<sup>7</sup>

Yoga has been applied to the field of therapeutics in recent times. Some studies on pranayama has shown to relax and improved pulmonary function in normal subjects<sup>8</sup>. Preksha Yoga is an uncomplicated, easy-to-learn technique of Yoga. The mechanism of Preksha Yoga is based on fundamental principle of the correction of imbalances and perversions occurring at either levels of multilayered human existence. It aims at uninterrupted self awareness. Pure stream of consciousness interacting with *micro body* (records of informations) moves forward and energy flows in the form of *Adhyāvasāya* (primal drives). This energy flow then enters into the astral body and takes the form of electromagnetic radiation (*Leśhyā*). Streaming into physical body (gross body) it affects the endocrine glands and expresses itself in the form of emotions. This further activates the nervous system, thereby generating bioelectrical impulses, and ultimately initiates various vocal and physical activities<sup>9</sup>. Preksha Yoga, as propounded by its experts, may be an efficient technique in treating patients of NIDDM. The present study was aimed at evaluating the efficacy of Preksha Yoga on managing the NIDDM suffering subjects of advance age group.

## Method

### Selection of subjects

20 subjects suffering from Diabetes Mellitus Type 2 (NIDDM) in the age group of 50 to 70 years were selected on random basis. Best possible efforts were made to include the subjects having similar socioeconomic status. However, qualifications and professional uniformity could not be taken into consideration because of local geographical constraints. The total numbers of subjects were divided into two groups, each of 10 Subjects, in *experimental* and *control* group. The experimental group of subjects were exposed to Preksha Yoga Therapy, whereas, the control group was not given any such treatment and were allowed to live their routine life.

### Preksha Yoga Therapy module

The experimental group of subjects have undertaken the Preksha Yoga Therapy program once a day as per schedule given below<sup>10</sup>

I. Health Rejuvenating Exercises	05Minutes
II. Āsanas - Sūryanamaskār, Uttānapādāsana, Matyasana, Bhujāṅgāsana, Ardhamatsyendrāsana	15 Minutes
III Kāyotsarga (Relaxation)	15 Minutes
IV PrāñāyamóAnulom-Vilom	15 Minutes
V. Preksha of Pancreas	05 Minutes
VI. Anupreksha (Contemplation) for the healthof Pancreas.	15 Minutes

### Parameters of evaluation

1. Fasting blood glucose (FG) and postprandial blood glucose (PPG) level were estimated in plasma by 'Glucose Oxide' method of Trinder<sup>11</sup>.
2. Glycosylated hemoglobin was measured by 'Fast Ion Exchange Resin Separation' method using Human GmbH kit.
3. Pulmonary functions were measured by using RMS Medispiro (Helios 501) with automated computer attachment and following components were taken for study:

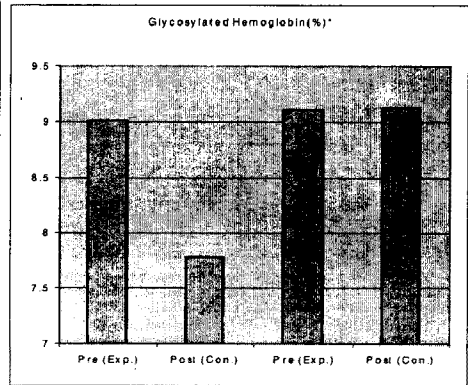
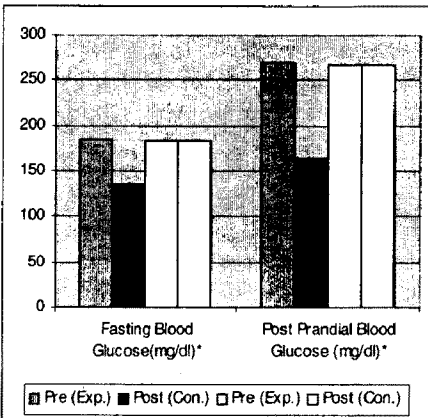
(a) Forced Expiratory Volume (FEV), (b) Forced Vital Capacity (FVC), (c) Peak Expiratory Flow Rate (PEFR), (d) Peak Inspiratory Flow Rate (PIFR), (e) Maximal Voluntary Ventilation (MVV) and (f) Vital Capacity (VC).

### Statistical analysis

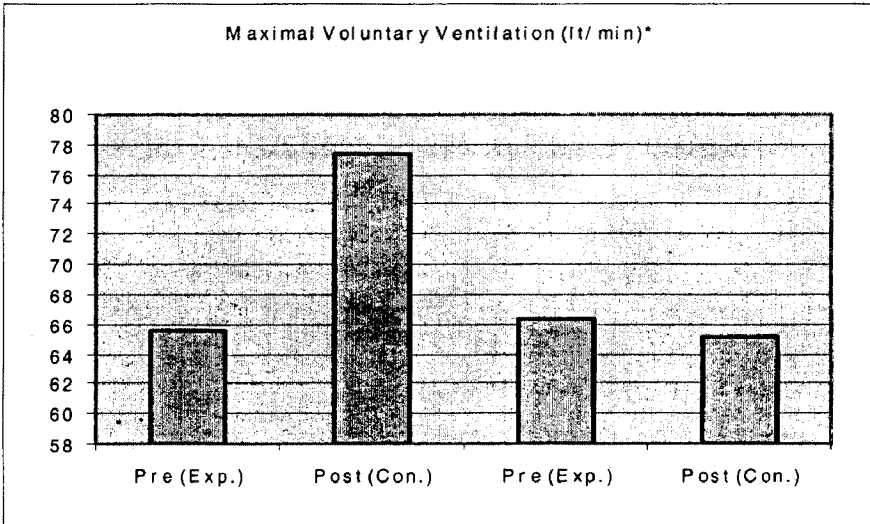
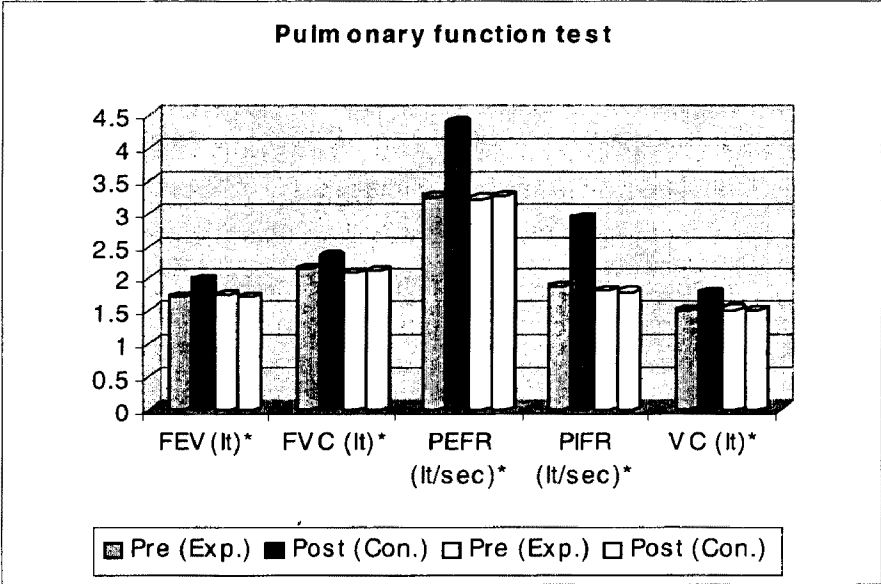
In this study only inter-group comparison was made with the aim to evaluate the net effect of Preksha Yoga Therapy vis-à-vis normal activity, at various follow-up stages. One tailed 't' test was applied and graded significance level was denoted as  $P \leq 0.05$  (\*),  $P \leq 0.01$  (\*\*),  $P \leq 0.001$  (\*\*\*) which was taken from probability significant task.

### Results

The fasting and postprandial blood glucose levels have shown a similar range in both control and experimental group of subject at 0 day of observation which was quite obvious because none of the subjects of these two groups were given any specific treatment. The mean FG level was  $184.1 \pm 90.8$  and  $185.1 \pm 90.8$  mg/dl in control group and experimental group of subjects respectively, where as the PPG level was  $269.5 \pm 88.4$  mg/dl in experimental group and  $266.5 \pm 91.49$  mg/dl in control group (Table 1). After one month of the therapy a decline was noticed in both fasting and postprandial blood glucose in the experimental group of subjects where the mean value of FG was reported to be  $135.5 \pm 79.8$  mg/dl and that of PPG was  $164.8 \pm 103.1$  mg/dl. However, in the control group the mean FG was  $183.5 \pm 90.7$  mg/dl, and PPG was  $267.1 \pm 102$  mg/dl. The difference between the two groups was statistically significant.



Glycosylated hemoglobin decreased significantly from  $9.01 \% \pm 1.8$  to  $7.78 \% \pm 2.5$  in experimental group of subjects after post intervention period where as in control group of subjects no such decline was reported, the values being  $9.11 \% \pm 1.9$  and  $9.12 \% \pm 2$  at pre- and post- intervention level.



The pulmonary functions also have shown significant change in experimental group of subjects (Table 1) as FEV increases from  $1.71 \pm 0.4$

It to  $1.99 \pm 0.4$  lt, FVC increases from  $2.15 \pm 0.05$  lt to  $2.33 \pm 0.05$  lt, PEFr increases from  $3.25 \pm 1.1$  lt/sec to  $4.39 \pm 1.4$  lt/sec, PIFr increases from  $1.88 \pm 0.78$  lt/sec to  $2.91 \pm 0.94$  lt/sec, MVV increases from  $65.49 \pm 24.8$  lt/min to  $77.39 \pm 27.9$  lt/min and VC increases from  $1.51 \pm 0.38$  lt to  $1.78 \pm 0.43$  lt however no significant change was noticed in control group of subjects where the mean value remains in the same range FEV  $1.74 \pm 0.4$  lt to  $1.72 \pm 0.38$  lt, FVC  $2.09 \pm 0.05$  lt to  $2.12 \pm 0.06$  lt, PEFr  $3.21 \pm 1.1$  lt/sec to  $3.26 \pm 1.2$  lt/sec, PIFr  $1.81 \pm 0.82$  lt/sec to  $1.79 \pm 0.8$  lt/sec, MVV  $66.41 \pm 25.4$  lt/min to  $65.11 \pm 24.4$  lt/min and VC  $1.52 \pm 0.39$  lt to  $1.51 \pm 0.38$  lt. So the pulmonary functions improved in the experimental group of subjects following Preksha Yoga Therapy.

**Table 1 - Fasting blood glucose (FG), Postprandial blood glucose (PPG), Glycosylated hemoglobin (HbA<sub>1c</sub>) and Pulmonary function values before and after 30 days of Preksha Yoga therapy.**

Parameter of study (Units)	Experimental Group		Control Group	
	Pre (Mean $\pm$ SD)	Post (Mean $\pm$ SD)	Pre (Mean $\pm$ SD)	Post (Mean $\pm$ SD)
Fasting Blood Glucose(mg/dl)	185.1 $\pm 90.8$	135.5 $\pm 79.8$	184.1 $\pm 90.8$	183.5 $\pm 90.7$
Post Prandial Blood Glucose (mg/dl)	269.5 $\pm 101$	164.8 $\pm 103.1$	266.5 $\pm 101$	267.1 $\pm 102$
Forced Expiratory Volume(lt)	1.71 $\pm 0.4$	1.99 $\pm 0.4$	1.74 $\pm 0.4$	1.72 $\pm 0.38$
Forced Vital Capacity (lt)	2.15 $\pm 0.05$	2.33 $\pm 0.05$	2.09 $\pm 0.05$	2.12 $\pm 0.06$
Peak Expiratory Flow Rate (lt/sec)	3.25 $\pm 1.1$	4.39 $\pm 1.4$	3.21 $\pm 1.1$	3.26 $\pm 1.2$
Peak Inspiratory Flow Rate (lt/sec)	1.88 $\pm 0.78$	2.91 $\pm 0.94$	1.81 $\pm 0.82$	1.79 $\pm 0.8$
Maximal Voluntary Ventilation (lt/min)	65.49 $\pm 24.8$	77.39 $\pm 27.9$	66.41 $\pm 25.4$	65.11 $\pm 24.5$
Vital Capacity (lt)	1.51 $\pm 0.38$	1.78 $\pm 0.43$	1.52 $\pm 0.39$	1.51 $\pm 0.38$
Glycosylated Hemoglobin(%)	9.01 $\pm 1.8$	7.78 $\pm 2.5$	9.11 $\pm 1.9$	9.12 $\pm 2$

## Discussion

Diabetes Mellitus is a slowly progressive disease that deteriorates the rate of metabolism and the normal functioning of lungs<sup>12</sup> as can also be observed from the findings shown in Table 1. limited joint mobility that occurs as a consequence of change in structural proteins of the joints of the chest and elatin and collagen abnormalities of the pulmonary capillaries and smooth muscles of airways may be the reason for reduced total lung capacity and the disordered lung mechanics<sup>13</sup>. A reduction of inspiratory capacity is due to reduced capacity of the muscles<sup>14</sup>. However, a consistent reduction in MVV among diabetics was seen only in subjects with severe obesity (weight/height greater than 1.1 kg/cm)<sup>15</sup>.

Preksha Yoga appears to be a specialized respiratory exercise capable of inducing series of beneficial effects besides causing significant improvement of respiratory functions and metabolic rate. Yogic asanas have been observed to lower rate of respiration, increase FEV/FCV, increase slow vital capacity, maximal voluntary ventilation, peak expiratory flow rate (PEFR), expansion of chest, vital capacity, ability to hold breath and reduce bronchial hyperactivity.<sup>16,17</sup>

In our study a measurable degree of airflow obstruction was relieved with yogasanas, pranayama and meditation as can be seen with a statistically significant improvement of PEFR and an improvement of FEV/FVC and PIFR. The exact mechanism involved is not known however, nostril breathing<sup>18</sup> releases epinephrine in patients with diabetic autonomic neuropathy, reducing parasympathetic bronchomotor tone, resulting in increased basal airway caliber.<sup>19</sup>

Improvement of the FEV, FVC and MVV shows a measurable increase in the respiratory pump efficiency. In different asanas, the abdominal wall is brought into activity. This in turn works on the diaphragm and moves it better, thus helping the lungs empty efficiently. Proper relaxation during various asanas help the patients to exhale more easily.

The minimum production of carbon dioxide in the body through yogasanas and meditation results in slowing the activity of the lungs and the heart.<sup>20</sup> Besides, as the individual is relaxed in yogic breathing, the basic need of oxygen decreases. There occurs neither oxygen debt nor increased

level of lactic acid as is otherwise associated during heavy exercises.  $\text{CO}_2$  levels in the blood can very easily increase in yogic breathing but it will always remain below the maximum allowable level.<sup>21</sup> The gradual rise in  $\text{CO}_2$  level also has psychophysiological effects on the individual as compared to a sudden rise or fall of  $\text{CO}_2$  levels that may occur during exercise.

Besides, voluntary control by conscious effort on thoracic muscles and abdominal muscles alters the blood gas concentration. Breathing forcefully decreases the  $\text{PCO}_2$ , which acts on the chemoreceptor area of the brain to modify activity of the generator neurons of respiration in the respiratory center.<sup>19</sup> Modification of the higher centers may result in overall improvement of pulmonary function.

In the diabetic person the fasting blood glucose concentration is almost always above 100 mg/dl and often above 150 mg/dl. Also, the glucose tolerance test is almost always abnormal. On ingestion of glucose these persons exhibit a much greater than normal rise in blood glucose level, and the glucose level falls back to control value only after 3 hrs; furthermore, it fails to fall below the control level. This slow fall of the curve and its failure to fall below the control level illustrates that the normal increase in the insulin secretion following glucose ingestion does not occur in the diabetic person. Since the concentration of the plasma glucose during oral glucose testing depends on (a) the fasting plasma glucose level, (b) the rate of absorption of glucose, and (c) its uptake by tissues and excretion in urine, it is obvious that the glucose values during the test are only partly related to the utilization of glucose by tissues.

Our findings show a clear picture of significantly reduced fasting blood sugar level in experimental group of subjects on subsequent follow up periods of one month. A significant change was noticed that the peak value of post-prandial blood sugar in the experimental group subjects were comparatively lower than control group values. Similar changes were reported by Jain et al (1993)<sup>22</sup>. They studied the response pattern of NIDDM to yoga therapy and reported that changes in blood glucose and glucose tolerance following oral glucose ingestion was categorized according to a severity scale index based on area index total under curve. There was a significant reduction in hyperglycemia and area index total with decrease in oral hypoglycemia and area index total with decrease in oral hypoglycemic drugs required for



maintenance of normoglycemia. They concluded that yoga, a simple and economical therapy, may be considered a beneficial adjuvant for NIDDM patients. Oh et al (2003)<sup>23</sup> investigated the effect of a telephone-delivered intervention on glycemic control and body mass index in NIDDM patients and observed that patients had a mean decrease of 12% in fasting blood sugar level and 2 hour postprandial blood glucose level after 12 weeks of the intervention. Jeng et al (2002)<sup>24</sup> carried out a scientific study with the objective to examine the influence of yoga based upper-extremity exercise on glucose response and to establish a predictive model changes in serum glucose under different exercise intensities and durations. They observed that arm exercise can play a useful role in glycemic control for type 2 diabetes mellitus patients and exercise duration is a key factor in determining serum glucose response under yoga based upper-extremity exercise. Thorburn and Detto (1990)<sup>25</sup> observed that a metabolic defect that causes hyperglycemia in diabetic subjects is not always a reduced peripheral insulin sensitivity.

Bruttomesso (1999)<sup>26</sup> stated that the loss of first-phase insulin secretion is a characteristic feature of NIDDM patients. The fast-acting insulin analog lispro provides a therapeutic tool for assessing the metabolic outcome of restoration of an early rise in plasma insulin level after the ingestion of an oral glucose load. They, after studying eight NIDDM patients on different occasions when they receive an oral glucose preceded by either human regular insulin or insulin analog lispro, opined that an early rise in plasma insulin levels after the ingestion of a glucose load is associated with significant improvement in glucose tolerance due to a prompt, though short-lived, suppression of endogenous glucose production.

Malhotra et al (2002)<sup>27</sup> have studied the effect of Yogasanas on pulmonary functions in NIDDM patients and expressed the view that certain yoga asanas, if practiced regularly, might exhibit significant beneficial effect by interacting with various somato-neuro-endocrine mechanisms. Their findings suggest that better glycemic control and pulmonary functions can be obtained in NIDDM cases with yogasanas, pranayama and meditation. This view is in accordance with the results of our study. Results of a four year study conducted by Rugmini and Sinha (1975)<sup>28</sup> have demonstrated the beneficial effects of yogic therapy in NIDDM in terms of significantly

reduced blood sugar level (both fasting and post prandial). All the subjects of this study taking oral antidiabetic drugs or less than 40 units of insulin daily were relieved of the necessity of medication. These findings again support the results of the present study.

Glycosylated haemoglobin concentration significantly predicted mortality, with increasing risk throughout the whole range of concentrations, even below the threshold commonly accepted for diagnosis of diabetes. This effect was independent of known risk factors and consistent after men with existing diabetes, heart disease, and stroke were excluded. The predictive value of HbA<sub>1c</sub> for total mortality was stronger than that documented for cholesterol concentration, body mass index, and blood pressure. The mortality risk of establishing diabetes seemed to be mediated largely through HbA<sub>1c</sub> concentration.

People with diabetes have increased risk of vascular and respiratory diseases<sup>29,30,31,32</sup> and in these people blood concentration of glucose or HbA<sub>1c</sub> predicts subsequent microvascular and macrovascular events.<sup>33,34</sup> High glucose concentrations might accelerate atherosclerotic processes through several plausible mechanisms such as oxidative stress and protein glycation of vessel walls.<sup>35</sup> Reductions in blood glucose or HbA<sub>1c</sub> concentrations through tight blood glucose control in people with diabetes also reduces the risk of microvascular disease.<sup>36-39</sup> However, whether the relation of increasing blood glucose with adverse clinical outcomes exists only above a threshold or is a continuous relation across the whole population distribution is still debated.<sup>40-46</sup> For microvascular complications, studies report a flat relation below a threshold for fasting and post prandial glucose concentration as well as for HbA<sub>1c</sub>.<sup>47</sup> The relation with macrovascular outcomes, coronary heart disease, and stroke, is less clear.<sup>40-46</sup> It has been concluded that the progressive relation between glucose concentrations and cardiovascular and respiratory diseases extends below the diabetic threshold.

HbA<sub>1c</sub> concentration is related to prevalent coronary disease or carotid intimal thickening in non-diabetic people.<sup>48,49</sup> Two prospective studies reported that HbA<sub>1c</sub> predicts cardiovascular disease in non-diabetic people, but they focused on the top end of the distribution, which may contain people with undiagnosed diabetes.<sup>50,51</sup> Glycosylated haemoglobin seems to resemble blood pressure and blood cholesterol in terms of the

continuous relation with cardiovascular risk.<sup>52</sup> Our data indicate that decreased glycosylated haemoglobin concentration, following Preksha Yoga intervention has reduced the risk of cardiovascular and respiratory diseases in the diabetic subjects.

Preksha yoga therapy module applied in the present study comprises Preksha Meditation as its main component along with supplementary components namely, selected asanas and health rejuvenating exercises, lifestyle modification and very precise dietary regimen. The diet chart provided to the subjects of experimental group included the food ingredients having low glycaemic index. Such diet definitely helps in bringing down the plasma glucose level and maintaining the near normal lipid profile in the diabetic subjects. It seems that it helps in promoting the therapeutic effects of Preksha Yoga. Similar beneficial effects of low glycaemic diet were also observed by Kelly (2003)<sup>53</sup>, Wolever (1994<sup>54</sup>, 2003<sup>55</sup>), Tariq (2002)<sup>56</sup>, Jimenez-Cruz et al (2003)<sup>57</sup>, Andel et al (2004)<sup>58</sup>, Biesalski et al (2004)<sup>59</sup>.

Preksha yoga therapy module is a module where the practice of Preksha Meditation is at the core and other components, viz., health rejuvenating exercises, asanas, life style and dietary modulations, are supplementary to the Preksha Meditation. It is presumed that whatever changes have been recorded during the whole duration of study appeared due to psychobiological efficacy of Preksha Meditation. It is relevant to mention here that the core and integral components of Preksha Meditation are relaxation with self awareness (Kayotsarga), perception of breathing, perception of body, perception of psychic centers, perception of psychic colours and contemplation.

Relaxation is practiced to counteract the ill effects of stress. Here in this case stress would mean deformation of our comforts in NIDDM. It can display itself as tightness, an anxiety or an irrational fear. Under such stress we feel irritable, getting easily upset or angry and as stress increases we may begin to feel that we simply cannot cope with the situation any more, and finally that leads to several diseases or disorders, diabetes being one of them. Whenever one encounters a psychological stressful situation, an elaborate innate mechanism is automatically put into action. This mechanism involves (1) hypothalamus – the remarkable portion of the brain which integrates all functions of the body which are not normally controlled by the

conscious mind, (2) pituitary gland, which is called master of the endocrine system because it regulates the other glands, (3) adrenal gland, which secretes adrenalin and other hormones to keep the body tense and alert, and (4) sympathetic component of the autonomic nervous system which is responsible for ultimately preparing the body for “fight or flight” response. There is plenty of evidence now to show that tension may play a significant part in promoting or triggering off a great many illness including coronary heart disease and diabetes (Mahaprajna, 1992).<sup>60</sup> There is an innate mechanism which produces physiological conditions, which are diametrically opposite to fight or flight response. Nobel Laureate, Swiss Physiologist Dr. Walter described his response as a protective mechanism against overstress, promoting restorative processes and called it “trophotropic response”. Dr. Herbert Benson has termed this reaction as “relaxation response”. Kayotsarga component of Preksha Meditation enable the practitioner to activate the protective mechanism and to influence our reaction to stress. It normalizes the metabolic rate and secretion of stimulating hormones, in this case insulin and the sympathetic dominance is being counter-balanced by increased parasympathetic activity (Mahendra Kumar, 1991<sup>61</sup>; Mishra, 1996). Autosuggestion, associated with relaxation, works as a special kind of self-hypnosis, which modulates the functioning of self-healing mechanism, thereby correcting the abnormal functions of various organs. This may result in reversal of several disorders including diabetes.

### Reference:

1. Karam, JH. ‘Diabetes Mellitus and Hypoglycemia’ in *Current Medical Diagnosis & Treatment*, Tierney L.M., Jr. Mcphee S.J. & Papadakis M.A., Appleton & Lange, Stamford, CT 35<sup>th</sup> edn. 1996, 1031-1032.
2. Sharma, RK. Madhumeh, *Nirogi Dunia*, Prakashan, Jaipur, Pratham Sanskran 2001, 28-29.
3. Abramowitz S, Leiner GL, Small MJ. Chronic respiratory diseases and diabetes. *Rev Allergy* 1961; 23: 972.
4. Ramirex LC, Nogare DA, Hsia C, Araur C, Butt I, Strowing MS, Breen SL. Relationship between diabetes control and pulmonary function in insulin dependent diabetes mellitus. *Am J Med* 1991; 91: 371.
5. Lange P, Groth S, Kastrup J, Appleyard M, Nyboe J, Jensen G, Schnohr P. diabetes mellitus, plasma glucose and lung function in a crosssectional population study. *Eur Respir J* 1989; 2: 14-19.

6. Haffner SM, Lehto S, Ronnema T, Pyorala K, Lakkso M. Mortality from coronary heart disease in subjects with type 2 diabetes and in nondiabetic subjects with and without prior myocardial infarction. *N Engl J Med* 1998; 339: 229-234.
7. Diabetes Control and Complications Trial Research Group. The relationship of glycemic exposure (HbA<sub>1c</sub>) to the risk of development and progression of retinopathy in the diabetes control and complications trial. *Diabetes* 1995; 44: 968-983.
8. Udupa KN, Singh RH, Settiwar RM. A comparative study on the effect of some individual Yogic practices in normal person. *Indian J Med Res* 1975; 63: 1066-1071.
9. Mishra JPN. *Preksha Yoga for Common Ailments*, B. Jain Publishers, New Delhi, 1<sup>st</sup> edn. 1999, 48-52.
10. Acharya Mahaprajna. *Amrit Pitak*, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 3<sup>rd</sup> edn. 1999; 13.
11. Trinder P. Determination of glucose in blood using glucose oxide with an alternative oxygen receptor. *Ann Clin Biochem* 1996; 6: 24.
12. Malhotra V, Singh S, Tandon OP, Gupta P, Sharma SB, Madhu SV. Status of NIDDM patients after Yoga Asanas: Assesment of some important parameters. *Thesis* (unpublished). University of Delhi; April 2001.
13. Schuyler MR, Niewpehner RI, Inkley SR, Kohn R: abnormal lung elasticity in Juvenile diabetes mellitus. *Am Rev Respir Dis* 1976; 113: 3741.
14. Wanke T, Formanek D, Auinger M, Popp W, Zwick H, Irsigler K. inspiratory muscle performance and pulmonary function change in IDDM. *Am Rev Respir Dis* 1991; 143-197.
15. Ray CS, Sue DM, Bray G, Hansen JE, Wasserman K. effects of obesity on respiratory function. *Am Rev Respir Dis* 1983; 128: 501-508.
16. Kumar A, Kumari GK, Kumari GD, Sahay BK, Murthy KJR. Immediate effects of pranayama in airway obstruction. *Lung India* 1985; 3: 77-81.
17. Nagarathna R, Nagendra HR. yoga for bronchial asthma-controlled study. *British Medical Journal* 1985; 291: 977-1079.
18. Telles S, Nagarathna R, Nagendra HR. Breathing through a particular Nostril can alter Metabolism and Autonomic Activities. *Indian J Physiol Pharmacol* 1994; 38(2): 133-137.
19. Conceicao Santos-e-Fonseca MC, Manco Josec, Gallo Lourenco Jr, Bareira Amilton A, Foss Milton C. Cholinergic Bronchomotor tone and airway caliber in IDDM. *Chest* 1992; 101: 1038.
20. Bhole MV. A comparative study of Minute Ventilation in Deep and Pranayamic Breathing. *Yoga Mimamsa* July 1977; October 1978; 19: 8-20.

21. Wallace RK, Benson H, Wilson AF. A wakeful hypometabolic physiologic state. *Am J Physiol* 1971; 221: 795-799.
22. Jain SC, Uppal A, Bhatnagar SO., Talukdar B. A study of response pattern of non-insulin dependent diabetics to yoga therapy. *Diabetes Res Clin Pract*, 1993 Jan; 19(1): 69-74.
23. Oh JA, Kim HS, Yoon KH, Choi ES. A telephone-delivered intervention to improve glycemic control in type 2 diabetic patients. *Yonsei Med J* 2003; 44(1): 1-8.
24. Jeng C, Chang WY, Chen SR, Tseng IJ. Effects of arm exercise on serum glucose response in type 2 DM patients. *J. Nurs Res*, 2002; 10 (3): 187-194.
25. Thorburn AW, Proietto J. Peripheral tissue glucose uptake is not reduced after an oral glucose load in Southern Italian subjects at risk of developing non-insulin-dependend diabetes mellitus, *J. Clin Endocrinol Metab*, 1999; 84 (1): 272-278.
26. Bruttomesso D, Pianta A, Mari A, Marescotti MC, Avogaro A, Tiengo A and Del Prato S. Restoration of early rise in plasma insulin levels improves the glucose tolerance of type 2 diabetic patients, *Proc Soc Exp Biol Med*, 1999; 220(1): 46-51.
27. Malhotra V, Singh S, Singh KP, Gupta P, Sharma SB, Madhu SV and Tandon OP. Study of yoga asanas in assessment of pulmonary function in NIDDM patients. *Indian Journal of Physiology and Pharmacology*, 2002; 46 (3): 313-320.
28. Rugmini PS and Sinha RN. The effect of Yoga Therapy in diabetes Mellitus, *Seminar on Yoga, Science and Man*, 1975, C.C.R.I.M.H., New Delhi, 176-184.
29. Haffner SM, Lehto S, Ronnema T, Pyorala K, Lakkso M. Mortality from coronary heart disease in subjects with type 2 diabetes and in nondiabetic subjects with and without prior myocardial infarction. *N Engl J Med* 1998; 339: 229-234.
30. Kannel WB, McGee DL. Diabetes and glucose tolerance as risk factors for cardiovascular disease: the Framingham Study. *Diabetes Care* 1979; 2: 120-126.
31. Stamler J, Vaccaro O, Neaton JD, Wentworth D. Diabetes, other risk factors and 12 year cardiovascular mortality for men screened in the multiple risk factor intervention trial. *Diabetes Care* 1993; 16: 434-444.
32. Wingard DL, Barrett-Connor E. Heart disease and diabetes. In: National Diabetes Data Group, ed. *Diabetes in America*. 2nd ed. Washington, DC: Government Printing Office, 1995:429-448.
33. Moss SE, Klein R, Klein BEK, Meuer MS. The association of glycemia and cause-specific mortality in a diabetic population. *Arch Intern Med* 1994; 154: 2473-2479.
34. Krolewski AS, Laffel LMB, Krolewski M, Quinn M, Warram JH. Glycosylated hemoglobin and the risk of microalbuminuria in patients with insulin-dependent diabetes mellitus. *N Engl J Med* 1995; 332: 1251-1255.

35. Brownlee M. Glycation and diabetic complications. *Diabetes* 1994; 43: 836-844
36. Diabetes Control and Complications Trial Research Group. The effect of intensive treatment of diabetes on the development and progression of long-term complications in insulin-dependent diabetes mellitus. *N Engl J Med* 1993; 329: 977-986.
37. Diabetes Control and Complications Trial Research Group. The relationship of glycemic exposure (HbA<sub>1c</sub>) to the risk of development and progression of retinopathy in the diabetes control and complications trial. *Diabetes* 1995; 44: 968-983.
38. Diabetes Control and Complications Trial Research Group. The absence of a glycemic threshold for the development of long term complications: the perspective of the diabetes control and complications trial. *Diabetes* 1996; 45: 1289-1298.
39. UK Prospective Diabetes Study Group. Intensive blood glucose control with sulphonylureas or insulin compared with conventional treatment and risk of complications in patients with type 2 diabetes (UKPDS 33). *Lancet* 1998; 352: 837-853.
40. Donahue RP, Abbott RD, Reed DM, Yano K. Post challenge glucose level and coronary heart disease in men of Japanese ancestry. *Diabetes* 1987; 36: 689-692.
41. Butler WJ, Ostrander Jr LD, Carman WJ, Lamphiear DE. Mortality from coronary heart disease in the Tecumseh study: long-term effect of diabetes mellitus, glucose tolerance and other risk factors. *Am J Epidemiol* 1985; 121: 541-547.
42. Eschwege E, Richard JL, Thibault N, Ducimetiere P, Warner JM, Claude JR, et al. Coronary heart disease mortality in relation with diabetes, blood glucose and plasma insulin concentrations. The Paris prospective study, ten years later. *Horm Metab Res* 1985; 15(suppl series): 41-45.
43. Pyorala K, Savolainen E, Kaukola S, Haapagoski J. Plasma insulin as a coronary heart disease risk factor: relationship to other risk factors and predictive value during 9 1/2 year follow up of the Helsinki policemen study population. *Acta Med Scand* 1985; (suppl) 701: 38-52.
44. Ohlson LO, Svardsudd K, Welin L, Eriksson H, Wilhelmsen L, Tibblin G, et al. Fasting blood glucose and risk of coronary heart disease, stroke, and all cause mortality: a 17 year follow up study of men born in 1913. *Diabet Med* 1986; 3: 33-37.
45. Fuller JH, Shipley MJ, Rose G, Jarrett RJ, Keen H. Coronary heart disease risk and impaired glucose tolerance. The Whitehall study. *Lancet* 1980; i: 1373-1376.

46. Scheidt-Nave C, Barrett-Connor E, Wingard DL, Cohn BA, Edelstein SL. Sex differences in fasting glycemia as a risk factor of ischemic heart disease death. *Am J Epidemiol* 1991; 133: 565-576.
47. McCance DR, Hanson RL, Charles M-A, Jacobsson LTH, Pettitt DJ, Bennett PH, et al. Comparison of tests for glycosylated hemoglobin and fasting and two hour plasma glucose concentrations as diagnostic methods for diabetes. *BMJ* 1994; 308: 1323-1328.
48. Singer DE, Nathan DM, Keaven MA, Wilson PWF, Evans JC. Association of HbA<sub>1c</sub> with prevalent cardiovascular disease in the original cohort of the Framingham Heart Study. *Diabetes* 1992; 41: 202-208.
49. Vitelli LL, Shahar E, Heiss G, McGovern PG, Brancati FL, Eckfeldt JH, et al. Glycosylated hemoglobin level and carotid intimal-medial thickening in non-diabetic individuals. *Diabetes Care* 1997; 20: 1454-1458.
50. Park S, Barrett-Connor E, Wingard DL, Shan J, Edelstein S. Ghb is a better predictor of cardiovascular disease than fasting or postchallenge plasma glucose in women without diabetes. The Rancho Bernardo study. *Diabetes Care* 1996; 19: 450-456.
51. De Vegt F, Dekker JM, Ruhe HG, Stehouwer CD, Nijpels G, Bouter LM, et al. Hyperglycaemia is associated with all-cause and cardiovascular mortality in the Hoorn population: the Hoorn Study. *Diabetologia* 1999; 42: 926-931.
52. Neaton JD, Wentworth D. Serum cholesterol, blood pressure, cigarette smoking and death from coronary heart disease. Overall findings and differences by age for 316099 white men. Multiple Risk Factor Intervention Trial Research Group. *Arch Intern Med* 1992; 152: 56-64.
53. Kelley, D.E., Sugars and starch in the nutritional management of diabetes mellitus *Am J Clin Nutr*, 2003; 78(4): 858-864.
54. Wolever TM, Nguyen PM, Chiasson JL, Hunt JA, Josse RG, Palmason C, Rodger NW, Ross SA, Ryan EA, Tan MH. Determinants of diet glycemic index calculated retrospectively from diet records of 342 individuals with non-insulin-dependent diabetes mellitus. *Am J. Clin Nutr*, 1994; 59(6): 1265-1269.
55. Wolever TM. Carbohydrate and the regulation of blood glucose and metabolism. *Nutr Rev*, 2003; 61(5 Pt 2): 40-48.
56. Tariq SH. Dietary prescription in diabetes mellitus *Clin Geriatr Med*, 2002; 18(4): 827-833.
57. Jimenez-Cruz A, Bacardi-Gascon M, Turnbull WH, Rosales-Garay P, Severino-Lugo I. A flexible, low-glycemic index mexican-style diet in overweight and



- obese subjects with type 2 diabetes improves metabolic parameters during a 6-week treatment period. *Diabetes Care*. 2003; 26(7): 1967-1970.
58. Andel M, Brunerova L, Popova L, Dlouhy P, Duska F, Smejkalova V, Potockova, J, Kraml P. [Diabetic diet and reduction diet are worthy of a basic discussion of their paradigms. *Vnitr Lek*, 2004; 50 (5): 363-370.
59. Biesalski HK. Diabetes preventive components in the Mediteranean diet. *Eur J. Nutr*, 2004; 43 Suppl 1: 26-30.
60. Acharya Mahaprajna. *Preksha Dhyam : Theory and Practice*, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 3<sup>rd</sup> edn, 1994.
61. Muni Mahendra Kumar. *Therapeutic Thinking*, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1992.
- 

**\* J P N Mishra,**

Associate Professor,

Department of Science of Living, Preksha Meditation and Yoga,

Jain Vishva Bharti University,

Ladnun 341306 (Rajasthan)

**\*\*S K Gupta,**

Assistant Professor,

Department of Science of Living, Preksha Meditation and Yoga,

Jain Vishva Bharti University,

Ladnun 341306 (Rajasthan)

**\*\*\*P S Shekhawat,**

Research Scholar,

Department of Science of Living, Preksha Meditation and Yoga,

Jain Vishva Bharti University,

Ladnun 341306 (Rajasthan)

यःस्याद्वादी वचनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः  
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठः।  
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,  
नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, ब्राह्म के प्रति कर्मयोगी और अन्तर के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित-

**हेमराज शामसुखा**

**विनीत टेक्सफैब लिमिटेड**

101, मामुलपेट, बैंगलौर - 560 053

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय  
लाडनूँ के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित